विषय-सूची

भूमिका	7
1. आयुर्वेद-परिचय	13–35
1.1 आयुर्वेद शब्द का अर्थ	14
1.2 आयुर्वेद की परिभाषा	14
1.3 आयुर्वेद का प्रयोजन	15
1.4 आयुर्वेदावतरण	17
1.5 आयुर्वेद का क्रमिक विकास	25
1.6 आयुर्वेद की नित्यता	27
1.7 आयुर्वेद की विशेषताएँ	29
1.8 वेदों में आयुर्वेद (अथर्ववेद के सम्बन्ध में)	32
2. आयुर्वेद की आचार्य परम्परा	36–45
2.1 आचार्य आत्रेय की परम्परा	36
2.2 आचार्य धन्वन्तरि की परम्परा	39
3. आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थकार एवं उनके ग्रन्थ	46–69
3.1 चरक–चरकसंहिता	46
3.2 सुश्रुत–सुश्रुतसंहिता	51
3.3 वाग्भट – अष्टाङ्गसंग्रह	54
3.4 वाग्भट द्वितीय–अष्टाङ्गहृदय	57
3.5 माधव– माधवनिदान	60

Scanned with CamScanner

3.6 शार्ङ्गधर – शार्ङ्गधरसंहिता 62
3.7 भावमिश्र – भावप्रकाश 65

4. आयुर्वेद के आठ अंग या अष्टाङ्ग आयुर्वेद 70–86
4.1 शल्यतन्त्र (Surgery and Midwifery) 70
4.2 शालाक्यतन्त्र Copthamology Including ENT and Dentistry) 73
4.3 कायचिकित्सातन्त्र (General Medicine) 75
4.4 भूतविद्यातन्त्र (Psycho-theraphy) 79
4.5 कौमारभृत्यतन्त्र (Pediatrics) 81
4.6 अगदतन्त्र (Toxicology) 82
4.7 रसायनतन्त्र (Rejenation and Geriatrics) 84
4.8 वाजीकरणतन्त्र (Virlification, Science of Aphradisiac and Sexology) 85

5. आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त 87–102
5.1 त्रिगुण 87
5.2 पञ्चमहाभूत 89
5.3 त्रिदोष 90
5.4 सप्त धातुएँ 94
5.5 त्रयोदशाग्नि 97
5.6 त्रिमल 100

6. आयुर्वेदिक स्वस्थ वृत्त 103–136
6.1 दिनचर्या 103
6.2 रात्रिचर्या 108
6.3 ऋतुचर्या 110
6.4 तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली 119
6.5 पथ्य आहार सम्बद्ध तथ्य 124
6.6 अपथ्य आहार सम्बद्ध तथ्य 126

Scanned with CamScanner

1

आयुर्वेद-परिचय

आयुर्वेद शब्द आयुः + वेद इन दो शब्दों के संयोग से बना है। इसकी निरुक्ति से इसका अर्थ होता है **"आयुषो वेदः"** अर्थात् जो आयु का वेद है। आयुर्वेद शब्द के अर्थ को समझने के लिए दोनों शब्दों को अलग-अलग समझना आवश्यक होगा। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने आयु को इस प्रकार परिभाषित किया है-

शरीरेन्द्रिय सत्त्वामसंयसोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुचयते।।

च.सू. 1/42

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। पञ्चमहाभूत विकारात्मक एवं आत्मा के योगायतन को शरीर कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियाँ-क्षोत्र-त्वचा-नेत्र-जिह्वा और घ्राण। कमेन्द्रियाँ- वाणी- हाथ-पैर-मलद्वार और मूत्रमार्ग हैं। मन उभयात्मक इन्द्रिय है। आत्मा ज्ञान का अधिकरण है।

'चैतन्यानुवर्तनमायुः' अर्थात् चैतन्य की स्थिति को आयु कहा जाता है। अमरकोष में जीवितकाल को आयु कहा है- **"आयुर्जीवितकालः"**।

आयु, धारि, जीवित, नित्यग और अनुबन्ध ये सभी आयु के पर्याय कहे गए हैं।

आयुर्वेद में दूसरा शब्द **वेद** है, जो विद् ज्ञाने धातु से बना है। इस धातु का प्रयोग चार अर्थो में होता है - ज्ञान, सत्ता, विचार और प्राप्ति अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाये, (वेत्ति, ज्ञायते) जिससे अस्तित्व का बोध हो, (विद्यते, अस्ति),

Scanned with CamScanner

जिससे आयु के विषय में विचार किया जाये, (विचार्यते, चिन्ते) जिससे आयु को प्राप्त किया जाये (विन्दते, लभ्यते)।

1.1 आयुर्वेद शब्द का अर्थ

आयु और वेद इन दोनों शब्दों को अलग-अलग जानकर आयुर्वेद शब्द का अर्थ जानना सरल हो जाता है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिसमें आयु सम्बन्धी विचार हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते है कि जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है।

आयुर्वेद एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है। उस पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार नहीं होता है। अतः आयुर्वेद पर भी किसी वर्ग विशेष का अधिकार नहीं है।

'शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण और तन्त्र ये आयुर्वेद के पर्याय हैं-'

"तत्र आयुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्"। (च.सू. 30/31)

1.2 आयुर्वेद की परिभाषा

हितायु, अहितायु, सुखायु और दुःखायु इन चारों आयुओं का वर्णन जिस शास्त्र में है, वही आयुर्वेद है। आयुर्वेद सभी आयुवर्धक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी उपचारों तथा प्रयोगों की जानकारी देने में सक्षम है। आयुर्वेद न केवल शरीर-रचना व औषध-संरचना की जानकारी देता है, अपितु भोज्यों के सेवन, पथ्य सेवन अपथ्यपरिहार, जड़ी बूटियाँ, रस, धातुरस इत्यादि के समानता पूर्वक प्रयोग के द्वारा अनेकों असाधारण और असाध्य रोगों के उपचार का ज्ञान भी प्रदान करता है। आयुर्वेद हमें आयु संवर्धन, दीर्घायु, संरक्षण तथा भौतिकशरीर के पुनर्नवीकरण के लिए प्रभावशाली उपकरण भी बताता है।

चार आयुओं का वर्णन

1. हितायुः- उसकी आयु हितायु कहलाती है, जो सबका हित करने वाला हो, किसी दूसरे के धन का लोभी न हो, सत्यवादी व शान्तप्रकृति का हो, प्रत्येक

Scanned with CamScanner

कार्य को सोच समझ कर करने वाला हो, सावधान रहने वाला, धर्म, अर्थ, और काम का बिना किसी विरोध के प्रयोग करता हो, पूज्य जनों की पूजा करता हो, ज्ञानवान् हो, शान्तिप्रधान हो, वृद्धजनों की सेवा करने वाला हो और स्मृति शाली हो।

2. अहितायुः- हितायु के गुणों से रहित अर्थात् विषमगुणों वाला अहितायु है।

3. सुखायुः- उसकी आयु सुखायु कहलाती है, जो शारीरिक और मानसिक रोगों से रहित हो, यौवन सम्पन्न हो, बल-वीर्य-यश-पराक्रम युक्त हो, शास्त्रों का ज्ञाता और व्यवहारज्ञ हो, प्रसन्न और सन्तुष्ट इन्द्रियों से युक्त, समृद्ध और विभिन्न प्रकार के उपभोगों से युक्त, जो प्रत्येक सफलता को प्राप्त करने वाला हो और अपनी इच्छानुसार विचार करने वाला हो।

4. दुःखायुः- सुखायु के गुणों से रहित अर्थात् विपरीत गुणों वाला दुःखायु है।

आयुर्वेद शास्त्र के द्वारा आयु के स्वरूप और उसकी रक्षा का ज्ञान होता है। हितकर आहार-विहार और आचरण करने से आयु में स्थिरता आ जाती है, अन्यथा अज्ञानतावश असावधानी करने और स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने से आयु का ह्रास होता है अर्थात् आयु के रक्षणीय साधनों का उपदेश भी आयुर्वेद द्वारा ही होता है।

1.3 आयुर्वेद का प्रयोजन

"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार-प्रश्नं च।"

(च.सू. 30/26)

प्राचीन काल से ही सभी आचार्यो ने आयुर्वेद के दो प्रयोजनों को माना है, एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना।

"स्वस्थातुरपरायणम्"

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति हेतु दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या सद्वृत्त तथा त्रिविध उपस्तभों का पालन आयुर्वेद के अनुसार करना चाहिए। आचार्यो की यह मान्यता है कि इन उपायों द्वारा मानव शरीर को क्षेत्ररूपी और बीज रूपी व्याधि उत्पन्न

Scanned with CamScanner

करने वाले जीवाणुओं से सुरक्षा की जा सकती है। रोग से ग्रसित हो जाने पर रोगी के रोग का निवारण आयुर्वेद के दूसरे प्रयोजन के अन्तर्गत आता है।

प्राचीन कालीन भारत में मनुष्य की पूर्ण आयु सौ वर्ष मानी जाती थी। प्राचीन शास्त्रों में यह कहा भी गया है- **'शतायुर्वै पुरुषः'**

इस तथ्य को चरकसंहिता में प्रमाणित और परिभाषित भी किया है-

वर्षशतं खलु आयुषः प्रमाणमस्मिन् काले।
सन्ति पुनः अधिकोनवर्ष शतजीविनो मनुष्याः।।

विमानस्थान अ. 8 च.सं.

मनुष्य की आयु सामान्यतः सौ वर्ष होती है। कुछ मनुष्य इससे कम और कुछ अधिक भी जीवित रहते हैं, परन्तु कालान्तर में जब शारीरिक और मानसिक रोगों के कारण जब मानव की आयु का मान घटने लगा तो अल्पायु के भयवश रोगों के निवारण व आयु के मान की रक्षा के लिए जिन उपायों को बताया गया उन संग्रहीत उपायों ने आयुर्वेद का रूप ले लिया। चिकित्सा विशेषज्ञ वाग्भट ने आयुर्वेद के प्रयोजन के विषय में लिखा है कि मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्ट्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि का साधन आयु है। अतः आयु चतुष्ट्य की इच्छा करने वाले को आयुर्वेद के उपदेशों का आदर करना चाहिए-

आयुकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।।

अष्टाङ्ग हृदयम् - 1.2

आयुर्वेद ही ऐसा शास्त्र है जो पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है। वह आरोग्यमय जीवन देता है, क्योंकि रोगी व्यक्ति न तो धार्मिक क्रियाएँ कर सकता है, न धनार्जन कर सकता है, न जीवन की सुख सुविधाओं का आनन्द ले सकता है, न मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, उसका स्वयं का जीवन जीना ही कठिन हो जाता है, फिर वह पुरुषार्थों की प्राप्ति करने में समर्थ कैसे हो सकता है? परन्तु आयुर्वेद ऐसा शास्त्र है, जो इन पुरुषार्थों को प्राप्त करा सकता है। क्योंकि यह मानव को आरोग्यमय जीवन प्रदान करता है। नीरोग और स्वस्थ व्यक्ति ही अपनी इच्छा से इन पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकता है।

आयुर्वेद जीवन का दान करने वाला शास्त्र है और जीवनदान से बढ़कर कोई दान नहीं होता- **'नहि जीवितदानाद्धि विशिष्यते'** (चरकसूत्र)। इसलिए आयुर्वेद

Scanned with CamScanner

एक पुण्यतम वेद है। ऋग्वेद आदि परलोकहित साधक होने के कारण पुण्य वेद माने जाते हैं, परन्तु आयुर्वेद लोकहितसाधक के साथ-साथ परलोकहित साधक तथा आरोग्य को प्रदान करने के कारण महान् और धर्मसाधन के कारण पुण्यतम वेद माना गया है।

आयुर्वेद वेदविद् विद्वानों के द्वारा भी मान्य है-

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।।

च.सू. 1/43

वेद-वेदाङ्गो का अध्ययन-अध्यापन या यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले विद्वान् जब अस्वस्थता को प्राप्त हो जाते है तो उनके सभी कार्य अवरुद्ध हो जाते हैं तो उन्हें आरोग्य लाभ के लिए किसी चिकित्सक की शरण में जाना पड़ता था, चिकित्सक के पास जाकर ही पुनः वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए समर्थ हो पाते हैं। इस प्रकार सभी शास्त्रों का उपकारक होने के कारण आयुर्वेद को 'पुण्यतम वेद' कहा जा सकता है।

1.4 आयुर्वेदावतरण

संसार के सभी प्राणियों की इच्छा होती है कि वह सुखमय दीर्घ जीवन जीए। सभी शास्त्र मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्ति का मार्ग बतलाते हैं, परन्तु उनमें बताए गए नियमों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य आवश्यक है। आयुर्वेद स्वास्थ्य संरक्षण और रोगमुक्ति का शास्त्र है, इसलिए यह सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। आयुर्वेद का ज्ञान कैसे और किस रूप में प्राप्त होता है? इसका निरूपण किया जा रहा है। आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को दो भागों में विभाजित किया जाता है-

1. दैवीय उपदेश (ज्ञान) 2. लौकिक उपदेश (ज्ञान)

1. दैवीय उपदेशः- सर्वप्रथम ब्रह्म से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया। ब्रह्म से आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का आख्यान इस बात का संकेत करता है कि आयुर्वेद अनादि काल से है। दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमारों तथा इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे या मिथ्या इस विषय में अनेक विद्वत्तजनों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट

Scanned with CamScanner

किए हैं। परन्तु यह अवश्य ही ज्ञात हो जाता है कि इन्द्र की परम्परा तक वह देवलोक तक ही सीमित था। उसका रूप प्रागैतिहासिक था। भारतीय परम्परा में विद्याओं का स्रोत ब्रह्म से प्रारम्भ होकर इन्द्र तक माना जाता है। इन्द्र के द्वारा इस ज्ञान का प्रचार-प्रसार जब भूमण्डल में हुआ, तब से इतिहास की श्रृंखला का प्रारम्भ माना जा सकता है।

ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की परम्परा दैवीय परम्परा कही जाती है।

2. लौकिक उपदेश:- सतयुग (वैदिक काल) में सभी मानवों का आचार-व्यवहार पवित्र था और पृथ्वी, जल, वायु, देश, काल, औषध और धान्य आदि सभी अपने गुणों से सम्पन्न और समृद्ध थे। सभी प्राणी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह की प्रवृत्ति से युक्त थे। धर्म परायण और सात्विक मनोवृत्ति होने के कारण उनका स्वास्थ्य भी उत्तम था। उनका शरीर नीरोग तथा मन, सभी इन्द्रियाँ और अन्तरात्मा प्रसन्न थे। वे बलवान् और ओजवान् थे।

कालान्तर में प्राणी आलसी होते जा रहे थे। उनमें उत्साह और क्रियाशीलता कम हो रही थी। जीवन की सामग्रियों को संञ्चय करने की प्रवृत्ति जागने लगी और संचय ने लोभ को स्थान दिया। लोगों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध की प्रवृत्ति बलवती हुई और वे धर्म और सदाचार के मार्ग को छोड़कर एक दूसरे पर आक्रमण कर एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे। इस अधर्म और अनाचार का प्रभाव प्रकृति के उपादानों पर भी पड़ने लगा। पृथ्वी, जल, देश, काल, औषध और खाद्य पदार्थों के गुणों में कमी हो गई। आहार-विहार के दोष से शरीर में अग्नि विषमता, धातुओं में कमी और शारीरिक क्रियाओं में व्यतिक्रम के कारण रोगों ने शरीर पर आक्रमण कर दिया।

मानव रोगों से आक्रान्त हो गया। उसकी दिनचर्या अव्यवस्थित हो गई। वह अशान्त और बेचैन हो गया। उसके सभी कार्यों में रोगों ने एक रुकावट ला दी। विविध रोगों से आक्रान्त सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से दु:खी होकर दयालु महर्षियों ने हिमालय के समीप एक गोष्ठी का आयोजन किया। इसमें देश-विदेश से महर्षि पधारे जिसमें अङ्गिरा, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, आत्रेय, अगस्त्य, विश्वामित्र, मार्कण्डेय, आश्वलायन, परीक्षित, गार्ग्य, कात्यायन, काकायन, हिरण्याक्ष, मैत्रेय आदि अनेक महर्षि उपस्थित हुए।

Scanned with CamScanner

वे सभी महर्षि ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी, यम-नियम-दम-युक्त थे। सम्मेलन में वे इस प्रकार विचार विमर्श करने लगे कि आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन है, परन्तु वर्तमान में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होकर आरोग्य को नष्ट कर रही है। अतः इन रोगों की शान्ति के लिए इनसे बचने का उपाय खोजा जाए। यह वृतान्त चरकसंहिता में प्राप्त है-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः।।

(च.सू.1/15-16)

इस समस्या के समाधान के लिए सभी ने विचार विमर्श किया और सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देवराज इन्द्र ही रोगों से बचा सकते हैं, उन्हीं के पास रोगों की शान्ति का उपाय है, परन्तु सभी के सामने यह समस्या थी कि देवराज इन्द्र के पास कौन जाए। इस बात को सुनकर महर्षि भरद्वाज ने कहा कि इस कार्य के लिए मेरी नियुक्ति की जाए-**अहमर्थे नियुज्येऽयमत्रेति प्रथमं वचः। भरद्वाजोऽब्रवीतस्माद् ऋषिभिः स नियोजितः।** च.सू. 1/19। और सभी ने इस बात को एकमत से स्वीकार कर लिया।

इन्द्र के द्वारा भरद्वाज ऋषि को आयुर्वेद का उपदेश

भरद्वाज इन्द्र के पास गए और तब उन्होंने महर्षियों के विचार-विमर्श का सार इन्द्र को उनको सुनाया कि मर्त्यलोक में अनेक रोग उत्पन्न हो गये हैं। आप उन रोगों की शान्ति का उपाय बताने की कृपा करें। इसी के पश्चात् भरद्वाज को पुण्य तथा शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया, जिसके प्रथम ज्ञाता ब्रह्म थे।

भरद्वाज द्वारा उपदेशः- भरद्वाज ने जो आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र से प्राप्त किया उसका ज्ञान उन्होंने ऋषियों को दिया। आत्रेय उनमें प्रमुख ऋषि थे।

आत्रेय के शिष्यः- आयुर्वेद अर्थात् भरद्वाज से प्राप्त ज्ञान को आत्रेय ने अपने छः शिष्यों को दिया। उनके छः शिष्यों के नाम इस प्रकार है- अग्निवेश, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। उस ज्ञान को ग्रहण करके उन्होंने अपनी-अपनी संहिताएं रची। अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकर चरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया और वह **'चरकसंहिता'** के

Scanned with CamScanner

नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आज भी वह प्रधान संहिता मानी जाती है।

संहिताओं की रचना:- इस प्रसंग के आधार पर यह ज्ञात हो जाता है कि आत्रेय के समय का जीवन रोगग्रस्त था और उसके उपचार की भी कोई व्यवस्था नही थी। इसी काल से आयुर्वेद का लौकिक ज्ञान प्रारम्भ होता है। त्रिस्कन्ध का विस्तार होकर संहिता ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ होने लगी-

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वत पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।।

(च.सू. 1/24)

आयुर्वेद शास्त्र को इस पृथ्वी पर लाने का श्रेय महर्षि भरद्वाज को जाता है। भरद्वाज ने सभी प्राणियों के लिए आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार इस पृथ्वी पर किया और स्वयं भी वे आरोग्य-सम्पन्न दीर्घायु हुए-

'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम्'। (च.सू. 1/16)

आत्रेय के दूसरे शिष्यों में भेल हैं, जिनकी भेलसंहिता है, परन्तु आजकल यह खण्डित अवस्था में प्राप्त होती है। इसके मुख्यत: अंश लुप्त और नष्ट हो गये हैं।

जतूकर्ण, पराशर और क्षारपाणि रचित संहिताएं भी आज उपलब्ध नही हैं, केवल उनके उद्धरण यहाँ-वहाँ प्राप्त होते हैं। हारीत रचित हारीतसंहिता भी उपलब्ध नहीं है। जो हारीतसंहिता आजकल प्राप्त होती है, वह किसी परवर्ती विद्वान् रचित प्रतीत होती है। क्योंकि इसकी भाषा-शैली में वास्तविकता का अभाव है। आत्रेय के शिष्यों ने आयुर्वेद के ग्रन्थों का निर्माण कर उसको विस्तार प्रदान किया है।

चरक के अनुसार आयुर्वेदावतरण

भरद्वाज का नाम चरकसंहिता में एक स्थान पर भी नहीं आया है। आत्रेय आदि महर्षियों ने साक्षात् इन्द्र से आयुर्वेद के ज्ञान की प्राप्ति की थी-

"हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोङ्गत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्य-पुलस्त्य पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः" च.चि. (1/4/3)

इस अंश को कुछ विद्वान् अधिक प्रामाणिक मानते हैं, क्योंकि भरद्वाज का इसमें कोई उल्लेख नही हैं और न इनकी शिष्य-परम्परा का ही।

Scanned with CamScanner

ऋषि गण के ग्राम्यवास और ग्राम्य अन्न गोधूम आदि के कारण उनके शरीर स्थूल और मेदस्वी हो गए। उनकी शारीरिक क्रियाएँ भी मन्द पड़ गई और उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे अपना दैनिक जीवन का निर्वाह ठीक प्रकार से करने में असमर्थ हो गए। उनकी इस स्थिति, स्वास्थ्य और शिथिलता का कारण ग्रामीण वास है। और उन्होंने ग्राम को छोड़कर हिमालय पर जाने का विचार किया कि वहाँ ग्राम-वास वाले दोष नहीं होते। वह स्थान पवित्र है और पुण्यात्माओं का निवासस्थान है। वह गङ्गा का उद्गम स्थान है। वहाँ सभी रत्न प्राप्त होते हैं, वह दिव्य तीर्थ है, वहीं पर दिव्य औषधियाँ भी प्राप्त होती है। वह अमराधिपति इन्द्र द्वारा सुरक्षित है। यह निश्चय करके भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि हिमालय पर चले गये।

इन्द्र ने इन महर्षियों का स्वागत किया और ग्राम वास को दोषों का मूल कारण बताया। आप पुण्यात्मा हैं। आपने अपने शरीर की रक्षा करके प्रजा को अनुग्रहीत किया है और आयुर्वेद के ज्ञान का उपयुक्त समय बताया और इसके कारण दो लाभों की प्राप्ति होगी – 1. स्वयं की रक्षा 2. प्रजा की भलाई। यह आयुर्वेद का उपदेश मैंने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दक्ष प्रजापति से और दक्षप्रजापति ने ब्रह्मा से प्राप्त किया है।

प्रजा की छोटी आयु है और उसमें जरा (वार्धक्य) एवं अनेक व्याधियाँ हैं इसी कारण तप, दम, नियम, दान, अध्ययन तथा सम्पत्ति का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते।

आयुर्वेद आयुवर्द्धक, जरा-व्याधि-नाशक, ओजस्, उत्साहवर्धक तथा अमृत के समान है। यह पवित्र ज्ञान है। यह कल्याणकर एवं रक्षक है। यह उच्चकोटि का ज्ञान है, अतः आप लोग इसे पढिए। सुनिए। समझिए! इसका प्रचार-प्रसार करके प्रजा को अनुग्रहीत कीजिए। यह महान् वेद है और महर्षियों का ज्ञान है। इसके ज्ञान से आप लोगों की मैत्री बढ़ेगी एवं प्राणियों पर दया होगी। इस ज्ञान की वृद्धि का कर्म होने से आप महान् पुण्य के पात्र होंगे।

इन्द्र के इन मधुर वचनों को सुनकर वहाँ उपस्थित महर्षियों ने इन्द्र की वेद की ऋचाओं द्वारा स्तुति की और प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया। इसके

Scanned with CamScanner

बाद इन्द्र ने उन महर्षियों को आयुर्वेद रूपी अमृत का ज्ञान दिया और औषधि निर्माण की भी शिक्षा प्रदान की। दिव्य औषधियों ब्रह्मी आदि से उन्हें परिचित कराया।

सुश्रुत मत के अनुसार आयुर्वेदावतरण

काशी नरेश दिवोदास धन्वन्तरि जब वानप्रस्थ आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास बहुत से ऋषि शास्त्रचर्चा के लिए आए थे। उनमें औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, और सुश्रुत आदि मुख्य थे। ऋषियों ने कहा कि- भगवन्! शारीरिक, मानसिक तथा व्याधियों से पीड़ित और अपने परिजनों के रहते हुए भी अनाथों की तरह व्याकुल, रोते- चिल्लाते मानवों को देखकर हमारा मन पीड़ा का अनुभव करता है। उन दुःखी लोगों की पीड़ा को समाप्त करने के लिए, प्रजा के कल्याण के लिए और अपने आरोग्य जीवन के लिए हम आपसे आयुर्वेद का ज्ञान सुनने के इच्छुक हैं, क्योंकि यही वह शास्त्र है जिसके द्वारा ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का कल्याण प्राप्त किया जा सकता है। अतः आप हमें अपना शिष्य स्वीकार कर लीजिए। यह सुनकर भगवान् धन्वन्तरि ने सभी को अपना शिष्य स्वीकार कर लिया और उन्हें आयुर्वेद का ज्ञान दिया।

धन्वन्तरि का आयुर्वेद-उपदेशः-ब्रह्म ने ब्रह्मसंहिता की रचना की थी। जिसमें एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोक हैं। इसके बाद मनुष्यों की आयु कम होने के कारण आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित कर दिया। आयुर्वेद के आठ अंग इस प्रकार हैं-

1. शल्यतन्त्र 2. शालाक्यतन्त्र 3. कायचिकित्सातन्त्र 4. भूतविद्यातन्त्र
5. कौमारभृत्यतन्त्र 6. अगदतन्त्र 7. रसायनतन्त्र 8. वाजीकरणतन्त्र

आयुर्वेद इस प्रकार आठ अङ्गों में विभक्त किया है। धन्वन्तरि ने अपने शिष्यों से यह पूछा कि तुम्हें किस तन्त्र का ज्ञान प्राप्त करना है? तब शिष्यों ने उन्हें शल्यतन्त्र प्रधान आयुर्वेद का उपदेश देने को कहा। धन्वन्तरि ने 'एवमस्तु' कहा और उपदेश को प्रारम्भ कर दिया। और धन्वन्तरि ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे- रोगी के रोग की मुक्ति और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण।

Scanned with CamScanner

धन्वन्तरि के अनुसार आयुर्वेद का अर्थ है - (1) जिस शास्त्र के द्वारा आयु का अस्तित्त्व रहे 2. जिसके द्वारा आयु का लाभ हो (3) जिसके द्वारा आयु का ज्ञान हो और (4) जिसके द्वारा आयु का विचार किया जाए वही शास्त्र 'आयुर्वेद' है।

आयुर्वेद पवित्र, शाश्वत, नित्य, सुखदायक, यश और आयुवर्धक और जीविका को चलाने वाला है-**"तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं च"** (सु.सू. 1/17)।

प्राचीन समय में ही ब्रह्म ने आयुर्वेद का उपदेश प्रजापति को दिया, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को दिया, अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को दिया, इन्द्र ने धन्वन्तरि को दिया। धन्वन्तरि कहते है कि मैं विद्यार्थियों को यह उपदेश देता हूँ क्योंकि मैं आदिदेव धन्वन्तरि हूँ। देवताओं की चिकित्सा करके उन्हें जरा, रुजा और मृत्यु से मुक्ति दिलाई। अब आयुर्वेद के प्रधान अंग शल्य का उपदेश करने इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हूँ। (सु.सू.1)

चरक और सुश्रुत के मत में आयुर्वेदावतरण का अन्तर यह कि इसमें आत्रेय के स्थान पर धन्वन्तरि का नाम दिया है। धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और अपने शिष्यों सुश्रुत आदि को इस शल्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा दी।

काश्यपसंहिता (विमानस्थान) में भी आयुर्वेदावतरण के बारे में इसी प्रकार का वृतान्त प्राप्त होता है। आयुर्वेद का ज्ञान क्रमशः ब्रह्म से दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमारों और अश्विनी कुमारों से इन्द्र को प्राप्त हुआ। इन्द्र से कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु महर्षि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। फिर उन्होंने अपने पुत्रों और शिष्यों को यह ज्ञान दिया। यह कश्यप का मत है।

दक्ष प्रजापति से **अष्टाङ्गसंग्रह** में आयुर्वेद के ज्ञान के बारे में इस प्रकार उद्धृत किया है - आत्रेय, धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, आदि महर्षियों ने इन्द्र से ज्ञान प्राप्त किया। **अष्टाङ्गहृदय** और **भावप्रकाश** में आत्रेय को इन्द्र से ज्ञान प्राप्ति ही बात उद्धृत है। आत्रेय ने अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देकर इस शास्त्र को विस्तार प्रदान किया।

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित आयुर्वेद परम्परा का अवलोकन करने पर तीन सम्प्रदाय सामने आते हैं- 1. आत्रेय-सम्प्रदाय यह चरक की परम्परा में है।

Scanned with CamScanner

2. धान्वन्तर-सम्प्रदाय यह सुश्रुत परम्परा में है और 3. काश्यप सम्प्रदाय-यह कश्यप की परम्परा है। इसमें कौमारभृत्य तन्त्र प्रमुख माना जाता है। किन्तु इनके साथ ही एक पौराणिक परम्परा भी प्राप्त होती है जिसे 'भास्करसम्प्रदाय' कहा जाता है।

भास्कर-सम्प्रदाय का उल्लेख इस प्रकार से ब्रह्मवैवर्त (ब्रह्मखण्ड, अ० 16) में है कि चारों वेदों को देखकर प्रजापति ने चिन्तन किया और अन्य आयुर्वेद नामक पञ्चम वेद का बनाया इसी वेद को भास्कर नाम दिया। भास्कर ने इसी के आधार पर एक स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया जो 'भास्करसंहिता' कहलाई। अपने 16 शिष्यों को भास्कर ने आयुर्वेद का ज्ञान दिया और उन्होंने भी अपनी-अपनी संहिताएँ रची। भास्कर के शिष्य और उनके ग्रन्थ निम्नवत् हैं-

1. धन्वन्तरि - चिकित्सातत्त्वविज्ञान।
2. दिवोदास - चिकित्सादर्पण।
3. काशिराज - चिकित्साकौमदी।
4. अश्विनीकुमार - चिकित्सासारतन्त्र।
5. नकुल - वैद्यकसर्वस्व।
6. सहदेव - व्याधिसिन्धुविमर्दन।
7. यम - ज्ञानार्णव।
8. च्यवन - जीवदान।
9. जनक - वैद्यसन्देहभंजन।
10. बुध - सर्वसार।
11. जाबाल - तन्त्रसार।
12. जाजलि - वेदाङ्गसार।
13. पैल - निदान।
14. कवथ - सर्वधर।
15. अगस्त्थ - द्वैधनिर्णयतन्त्र।

इनका विवेचन पुराणों में प्राप्त है। आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। इसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्म को आयुर्वेद का ज्ञान था और पुनः और क्रमशः यह

Scanned with CamScanner

देवलोक तथा मर्त्यलोक पर इसका प्रचार हुआ। ऋषियों की स्वाध्यायपरम्परा में अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण ये चार अवस्थाएँ मानी थी। ज्ञान इन चार स्तरों के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त करता है। **'प्राणाभिसर'** वैद्य पर भी यही नियम लागू था। शास्त्रज्ञान, अर्थज्ञान, कर्मज्ञान और आचरण इन चारों में परिपक्व ज्ञानवान् व्यक्ति ही प्राणाभिसर अर्थात् प्राण की रक्षा करने वाला कहलाता था। आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ऋषियों ने उस ज्ञान का प्रयोग स्वयं किया और फिर अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को यह ज्ञान देकर उसका विस्तार किया। त्रिसूत्र का उपदेश इन्द्र ने भारद्वाज को दिया जो समयानुसार बढ़ता हुआ अनेक संहिता और संग्रह ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णित है। आयुर्वेद रूपी ज्ञानगंगा हमेशा प्रवाहित रही है और अनेक स्रोतों से इसमें ज्ञानवारि की धारा का मिश्रण हुआ है। मानव को जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब वह स्वस्थ और निरोग हो और उसका ज्ञान हमें आयुर्वेद से ही प्राप्त होता है।

1.5 आयुर्वेद का क्रमिक विकास

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में ब्रह्म को सर्वज्ञानमय माना गया है। पहले यह सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न थी और इस कल्प के प्रारम्भ में ब्रह्म आदिकाल में हुए। ब्रह्म को ही सभी संहिताओं और संग्रह ग्रन्थों में आयुर्वेद का प्रथम उपदेश देने वाला बताया है। सर्वप्रथम ब्रह्म ने आयुर्वेद का उपदेश दिया और उनका प्रथम ग्रन्थ ब्रह्मसंहिता था।

सर्वप्रथम ब्रह्म ने दक्ष प्रजापति और सूर्य अर्थात् भास्कर को आयुर्वेद को उपदेश दिया। जिसके कारण दो परम्परायें विकसित हुई। एक दक्ष परम्परा और दूसरी भास्कर परम्परा। दक्षपरम्परा सिद्धान्त पक्ष प्रधान थी और भास्कर परम्परा में चिकित्सा की प्रधानता थी। अश्विनीकुमारों ने भी ब्रह्म से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की। इस बात को गदनिग्रह ग्रन्थ की इस बात द्वारा सिद्ध किया जा सकता है-

'अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा ब्रह्म वचनमब्रवीत्' (गदनिग्रह, हरिकल्प)

इनके द्वारा आश्विनसंहिता, चिकित्सासारतन्त्र, भ्रमघ्न और नाड़ीपरीक्षा नामक ग्रन्थों की रचना की गई।

अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया, ऐसा चरकसंहिता और आयुर्वेद के दूसरे ग्रन्थों में वर्णित है-**अश्विनीभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे**

Scanned with CamScanner

ह केवलम् (च०सू० 1) चरकसंहिता में कहा गया है कि इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन भरद्वाज तथा भृगु, अंगिरा आदि दस ऋषियों ने किया था। काश्यपसंहिता के अनुसार इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु इन ऋषियों के उपदेश दिया। इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने का वर्णन सुश्रुतसंहिता में है- **इन्द्रादहं** (सु०सू० 1)

भरद्वाज नाम से अनेक आचार्यों के नाम आते हैं। बार्हस्पत्य भरद्वाज दीर्घायु से सम्पन्न थे। उनकी आयु अमित थी। उनको अमितायु भी कहा जाता था- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाज सुखान्वितः:'** (च०सू० 1/26) इसी परम्परा में भरद्वाज से आत्रेय ने और आत्रेय से अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः शिष्यों ने आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। इसके बाद इन आचार्यों ने अपनी-अपनी अलग संहिताओं की रचना की। अग्निवेशसंहिता ही चरकसंहिता है और यही आयुर्वेद का प्रमुख और प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चरक के द्वारा अग्निवेशसंहिता का प्रतिसंस्कार किया गया और इसमें कुछ नए अंशों को समाहित किया गया। चरक के नाम पर ही आगे चलकर इसका नाम चरकसंहिता प्रसिद्ध हुआ। अन्य आचार्यो की संहिताएं प्राप्त नहीं होती है। एक भेल संहिता प्राप्त होती है, वह भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। आजकल जो हारीतसंहिता नाम ग्रन्थ प्राप्त होता है वह अन्य किसी की रचना है। क्योंकि उसकी भाषा, विषय और शैली संहिता ग्रन्थों से भिन्न है।

आयुर्वेदावतरण की परम्परा का थोड़ा बहुत अन्तर तो सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु सभी ने आदि आयुर्वेद आचार्य और प्रवर्तक ब्रह्म को ही माना है, आयुर्वेद का उदय और उसकी समृद्धि वैदिक काल से ही प्रकट होती है। इस प्रकार यह आयुर्वेद गंगा वैदिक काल से ही विशाल और गम्भीर प्रवाह में बहती है तथा परवर्ती आचार्यो के विचारों की गंगा को अपने अंदर समाहित करके सम्पूर्ण विश्व में लम्बे समय से जन-जन के जीवन में व्याप्त है। आयुर्वेद का प्रभाव चिकित्सा जगत् में सार्वभौम था और विश्व की सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों ने बहुत आयुर्वैदिक विषयों को ग्रहण किया है।

प्राचीन आचार्यो ने बहुत से संहिता ग्रन्थों की रचना की। उनमें से सभी आज उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके उद्धरण ताडपत्र पर उद्धृत और ज्वरसमुच्चय आदि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। आयुर्वेद के मूल आचार्य अश्विनीकुमार, इन्द्र तथा भरद्वाज

Scanned with CamScanner

थे। इन्हीं की परम्परा में धन्वन्तरि, आत्रेय, कश्यप और भेड आदि ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश दिया और चिकित्साशास्त्र में पूर्व के आचार्यों के मतों को निर्देशित किया गया है।

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने निबन्धसार-संग्रह की रचना की है। इन्होंने सुश्रुत के सहपाठी कांकायन का उल्लेख किया है। आत्रेय के द्वारा वाह्लीक देश के श्रेष्ठ वैद्या के रूप में काकायन का नाम निर्देशित किया है–**'वाह्लीकभिषक् या वाह्लीभिषजों वरः'** इन तथ्यों के आधार हम कह सकते हैं कि कांकायन दूसरे देश के होते हुए भी भारतीय वैद्यों के साहचर्य में थे। ये वाह्लीक देश के मुख्य वैद्य और दिवोदास के शिष्य थे। इससे यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचलन भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी था, इसी कारण दूसरे देशों के शिष्य भी इस शिक्षा के अध्ययनार्थ यहाँ आया करते थे। संभवतः हिरण्याक्ष, पैङ्गल्य आदि आचार्य विदेशी होते हुए भी उनका सम्पर्क भारतीय चिकित्सकों के साथ था। इसलिए उनके मतों को सम्मान देते हुए संहिताकारों ने अपने ग्रन्थों में निर्देशित किया।

धन्वन्तरि के शिष्यों के नामों से भी यह प्रतीत होता है कि ये आयुर्वेद के अध्ययन के लिए अन्य देशों से यहां आए थे। उनके शिष्य औपधेनेव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य और गोपुररक्षित हैं। चरकसंहिता सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में, रत्नसमुच्चय (ग्रन्थारम्भ) में और दूसरे ग्रन्थों में भी आयुर्वेद के आचार्यो के नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। उन ऋषियों के नामों से ज्ञात होता है कि अनेक देशों के ऋषि हमेशा संभाषा-परिषद् में सम्मिलित हुआ करते थे।

भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है। जो अपनी शाखा-प्रशाखाओं में भारत में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में फैला हुआ है। आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद हमारे लिए एक वरदान है। भारतीय चिकित्सा प्रणाली विश्व की प्रसिद्ध चिकित्सा पद्धतियों में सबसे प्राचीन लगती है और यह इतनी विस्तृत है कि इसे देशकाल की सीमाओं में बांधना कठिन है, क्योंकि यह प्रत्येक काल में रही है, यह सार्वभौम है।

1.6 आयुर्वेद की नित्यता

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्म के मुख

Scanned with CamScanner

से निर्गत आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है और उसकी रक्षा कर रहा है। भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में प्राप्त आयुर्वेदीय विषयों की प्राप्ति इसका प्रमाण है। अथर्ववेद के काल तक आयुर्वेद के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक पक्ष का पर्याप्त विकास हो चुका था। उसी के आधार पर परवर्ती संहिताओं की रचना हुई। आयुर्वेदावतरण के आख्यान में ब्रह्म से इन्द्र तक का काल वस्तुत: वैदिक काल ही है। संहिताओं का काल इसके बाद प्रारम्भ होता है। आयुर्वेद का अष्टाङ्गविभाग भी इन्द्र के काल के बाद हुआ। आयुर्वेद की ज्ञानगंगा सतत प्रवाहित रही है और इसकी ज्ञान की धारा का मिश्रण अनेक स्रोतों में हुआ है। मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र में तभी सफल हो सकता है जब वह पूर्णत: स्वस्थ हो, इसलिए हम आयुर्वेद की उपयोगिता को नकार नहीं सकते हैं।

आयुर्वेद न केवल प्राचीन विद्या है, परन्तु वह अनादि और शाश्वत शास्त्र है। चरक ने आयुर्वेद को इस प्रकार कहा है- **'त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यम्'** (च०सू० 1) आयुर्वेद के शाश्वत पक्ष को चरक ने माना है। आयु की परम्परा, उसका ज्ञान और उसके ज्ञाता हमेशा रहे हैं। यह परम्परा कभी भी नहीं टूटी है। सुख-दु:ख एवं उसके कारण और उसकी चिकित्सा की परम्परा भी अक्षुण्ण रही है। अत: आयुर्वेद, उसका ज्ञान और ज्ञाता की परम्परा अनादि होने से आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। जो अनादि और शाश्वत होता है उसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

आचार्य चरक ने आयुर्वेद को अनादि और शाश्वत कहा है और साथ ही साथ अनादि और शाश्वता का कारण भी बताया है-

'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्ध-लक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च।' च०सू० 30/27। इस सूत्र में प्रतिपादित शब्दों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है-

अनादित्वात्- इसका तात्पर्य यह है कि जिसकी उत्पत्ति न हुई हो, वह अनादि है। अत: आयुर्वेद की कभी उत्पत्ति नहीं हुई, इसलिए यह अनादि है। आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान भारतीय चिकित्सा और चिकित्सा से भिन्न साहित्य में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है। इन सबमें इसके ज्ञान और उपदेश वर्णित है। कहीं भी इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी विषयक प्रसंग प्राप्त नहीं होता है।

स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्- जो द्रव्य जिस गुण से युक्त होते हैं, उनके

Scanned with CamScanner

द्वारा उन्हीं शारीरिक गुणों की वृद्धि होती है, उससे भिन्न गुणों की वृद्धि नहीं होती। यही लक्षण द्रव्यों का स्वभाव सिद्ध लक्षण है। आयुर्वेद में भी द्रव्यों के इसी स्वभाव को वर्णित किया गया है। द्रव्यों के इसी स्वभाव-सिद्ध लक्षण द्वारा आयुर्वेद की नित्यता सिद्ध होती है।

भावस्वभावनित्यत्वात्- किसी भी पदार्थ का अपना स्वभाव निश्चित है, यह नित्य है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, यह नित्य है। इसको बदला नहीं जा सकता है। उष्ण द्रव्यों के द्वारा उष्णता की प्राप्ति और शीतल द्रव्यों के द्वारा शीतलता की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान आयुर्वेद में प्राप्त होता है। अतः यह भी आयुर्वेद के नित्यत्व को सिद्ध करता है।

इन सब कारणों से तो आयुर्वेद की नित्यता सिद्ध होती है साथ ही एक और तथ्य है कि आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। वेद नित्य हैं और उन्हीं वेदों का अंग होने के कारण आयुर्वेद भी नित्य है।

1.7 आयुर्वेद की विशेषताएँ

आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। वेद केवल हमारे धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं, अपितु वे मानव की सभी समस्याओं का समाधान करने वाले ग्रन्थ हैं। इनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता है। आयुर्वेद भी पुण्यतम, शाश्वत और निःश्रेयसप्रद वेदाङ्ग हैं। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। अतः आयुर्वेद का वेदों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आयुर्वेद विद्वानों द्वारा सम्मानित पुण्यतम वेद है। आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है। इसलिये आयुर्वेद को 'पुण्यतम वेद' की संज्ञा दी गई है। अन्य वेद केवल परलोक हितकर हैं-

तस्यायुषो पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।।

च०सू० 1/43

सुश्रुत, चरक और वाग्भट आदि आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है। '**आयुषः पालनं वेदमुपवेदमथर्वणः**' (अष्टाङ्गसंग्रह) काश्यप ने आयुर्वेद को पञ्चम वेद माना है, क्योंकि आयुर्वेद वेद पर ही आश्रित हैं। किसी भी वेद या वेदाङ्ग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो

Scanned with CamScanner

वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। स्वस्थ पुरूष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है। आयुर्वेद नीरोगी जीवन देने वाला है। जिस प्रकार दक्षिण हाथ में पाँच अंगुलियों में अंगूठा उनका अधिपति और प्रधान होता है उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से भिन्न आयुर्वेद पंचम वेद है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी आयुर्वेद को पञ्चम वेद कहा गया है। वेद शब्द का प्रयोग आयुर्वेद अर्थ में आयुर्वेद की संहिताओं में प्राप्त होता है- **'अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः'**। (सु०सू० 1/1)

इन सब मतों का अध्ययन करने से हम यह कह सकते हैं कि आयुर्वेद पंचम वेद है, आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है, आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है, आयुर्वेद स्वतन्त्र वेदाङ्ग है और यह पुण्यतम वेद भी कहा जा सकता है।

आयुर्वेद आयु के विज्ञान का शास्त्र है। विज्ञान जगत् को पाञ्चभौतिक मानता है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त, पञ्चमहाभूत, त्रिदोष, रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि सभी का आधार विज्ञान है। क्षार के संयोग से अम्ल उदासीन हो जाता है। इस आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त को चरकसंहिता में हजारों साल पहले कहा गया है-**'क्षारं हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लद्रव्योपसंहितः'**।

सृष्टि के प्रारम्भ में जो नियम प्रयोग किए जाते थे। वे आज़ भी मान्य है, आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं के आधार पर विश्व चिकित्सा पद्धति में अपना स्थान बनाए हुए है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है। आयुर्वेदरूपी सूर्य आकाशमण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याणरूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है। दीर्घ आयु, वृद्धावस्थापर्यन्त शरीर और इन्द्रियों की शक्ति की स्थिरता और उत्तम सन्तति परम्परा आदि उपलब्धियाँ इस आयुर्वेद की आधारशिला है। आज सभी वैज्ञानिकों के आकर्षण का केन्द्र आयुर्वेद बना हुआ है, क्योंकि आयुर्वेद स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगी व्यक्ति को व्याधिमुक्त ही नहीं करता वल्कि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों से हमेशा मुक्त होने का मार्ग दिखाने का कार्य करता है। अतः यह एक सर्वोच्च दर्शन है।

आयुर्वेद पच्चीस तत्त्वों से बने मानव शरीर की सम्पूर्ण चिकित्सा का प्रेरक

Scanned with CamScanner

है। आयुर्वेद ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के श्रेय का साधक शास्त्र है-'अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकञ्च श्रेयः' (सु०सू० 1) आयुर्वेद को किसी सीमा में बांधा नहीं जा सकता क्योंकि यह सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना मानव को हित का मार्ग दिखाने वाला विज्ञान है। यह असीम है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, शिल्प और स्थापत्य एवं सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान समाहित हैं।

आयुर्वेद की अनेक शाखा-प्रशाखाओं को त्रिकालज्ञ महर्षियों ने विस्तृत किया। इसकी आयुर्वेद, मानवायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद और पश्वायुर्वेद आदि अनेक शाखायें हैं। आयुर्वेद की जीवनदायिनी धारा रूपी नदी अनादिकाल से ही अपरिमित अगाध ज्ञाननिधि के रूप में प्रवाहित है। जिसकी शीतल, स्निग्ध और अमृतदायिनी धारा में स्नान करके आजीवन नीरोग और अच्छे स्वास्थ्य के वरदान को प्राप्त किया जा सकता है। आयुर्वेद की इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और विशेषताएँ भी हैं जिनको हम विशेष कह सकते हैं-

1. आयुर्वेद पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के मूल कारण आरोग्य का दाता है।
2. यह 'स्वस्थवृत्त' और 'चिकित्सा' का उपदेश देने वाला शास्त्र है।
3. इसमें स्वस्थ मानव के स्वास्थ्य संरक्षण को प्रथम लक्ष्य के रूप में रखा है।
4. इसमें पुरुष को शरीर के मूल आधार पर प्रतिष्ठित माना गया है।
5. इसमें चिकित्सा को धनोपार्जन का साधन या व्यवसाय नहीं, अपितु मानव सेवा का मार्ग बतलाया गया है।
6. यह मैत्री, करुणा और प्रेम के श्रेष्ठ मार्ग को निर्देशित करता है।
7. यह दैविक कर्मों के विधि-विधान का ज्ञान कराता है जैसे आहार-विहार, स्नान आदि।
8. यह शरीर के 'योगक्षेम' कर भावों के पालन के लिए जागरूकता उत्पन्न करता है।
9. इसमें आचरण का विधान दिनचर्या और ऋतुचर्या के माध्यम से किया गया है।
10. इसमें महामारी जैसे भयंकर रोग से बचने के उपायों को बताया है।

Scanned with CamScanner

11. इसमें जीवन की पृष्ठभूमि सदाचार को मानकर 'आचाररसायन' को निर्देशित किया है।
12. इसमें अधर्म के परित्याग को बताया है, जो सभी रोगों का मूल कारण है।
13. इसमें धार्मिक क्रियाओं को सुखमय-आनन्दपूर्ण जीवनदायक कहा गया है।
14. इसमें समाग्नि, समदोष, समधातुमलकर्म के साथ ही वह प्रसन्नात्मा, प्रसन्नेंद्रिय और प्रसन्नमना हो, उसको स्वस्थ कहा है।

अत: आयुर्वेद ही ऐसा शास्त्र है जो मानव को विविध वेदनाओं के जाल से, रोगों से ग्रस्त मानव को रोगमुक्त और आरोग्यमय जीवन देता है। नीरोग और स्वस्थ व्यक्ति ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह लोकहितैषी शास्त्र है क्योंकि यह मनुष्य को इस योग्य बनाने में समर्थ होता है कि वह आरोग्यमय जीवन पाकर अपने जीवन को सफल बना लें। आयुर्वेद जीवन देने वाला है। अत: पुण्यतम वेद है। आयुर्वेद पवित्र ज्ञान है। आयुर्वेद आयुवर्द्धक, जरा-व्याधि-विनाशक, ओजस्, उत्साहवर्धक तथा अमृत स्वरूप है। यह कल्याणकर एवं जीवनरक्षक है।

1.8 वेदों में आयुर्वेद (अथर्ववेद के सम्बन्ध में)

वेद विश्व-संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। आदिकाल से ही वेद मानवजाति के लिए प्रकाश स्तम्भ रहे हैं। वेदों में ज्ञान और विज्ञान का अनन्त भण्डार है। इसलिए मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है अर्थात् वेदों में सभी प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों और उपांगों का यथास्थान विशद् वर्णन हुआ है।

वैदिक वाङ्मय वट वृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान और विज्ञान को अन्तर्भूत किए है। चिकित्साशास्त्र का मुख्य उपजीव्य अथर्ववेद है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तृत वर्णन है।

ऋग्वेद और आयुर्वेद- ऋग्वेद में आयुर्वेद के महत्वपूर्ण तथ्यों का यथास्थान वर्णन प्राप्त होता है। इसमें आयुर्वेद का उद्देश्य, वैद्य के गुण-कर्म, विविध औषधियों के लाभ आदि, शरीर के विभिन्न अंग, विविध चिकित्साएँ, अग्नि चिकित्सा, जलचिकित्सा, वायु चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, शल्यचिकित्सा,

Scanned with CamScanner

हस्तस्पर्श-चिकित्सा, यज्ञचिकित्सा, विषचिकित्सा, कृमिनाशन, दीर्घायुष्य, तेज, ओज, नीरोगता, वशीकरण, कुस्वप्न-नाशन आदि का विशिष्ट वर्णन है।

ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों के चिकित्सा कौशल और इन्द्र के चिकित्सा चमत्कार का वर्णन भी प्राप्त होता है। औषधियों से सम्बन्धित ज्ञान औषध सूक्त में प्राप्त होता है। औषधियों के स्वरूप, प्रयोग और उनके कामों का वर्णन है। वेदों में रूप, अग्नि, वरुण इन्द्र, मरुत् आदि दैव्यभिषक कहे गये हैं। परन्तु सर्वाधिक प्रसिद्धि अश्विनी कुमारों को है। वैद्य के लिए भिषक् शब्द प्रयुक्त है, उसे रक्षोहा और अमीवचातन भी कहा है-

यत्रौषधीः समगमत् राजानः समितावित।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः।।

यजुर्वेद और आयुर्वेद- यजुर्वेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयों की सामग्री प्राप्त होती है- वैद्य के गुण कर्म, विभिन्न औषधियों के नाम आदि, शरीर के विभिन्न अंग, चिकित्सा, दीर्घायुष्य, नीरोगता, तेज, वर्चस, बल, अग्नि और जल के गुण-कर्म आदि। बलास, अर्श, श्लीपद का प्रयोग करने हृदयरोग और कुष्ठरोग आदि दूर हो जाते हैं। मनुष्यों के शरीर के अंगों के साथ पशुओं के शरीर के अंगों को भी निर्देशित किया गया है।

सामवेद और आयुर्वेद- इसमें बहुत से मंत्र आयुर्वेद से लिए गए हैं जिनमें आयुर्वेद के विषयों का वर्णन है, परन्तु आयुर्वेद विषयक सामग्री न्यून है। इसमें आयुर्वेद से सम्बद्ध कुछ मन्त्र निम्न विषयों के प्रतिपादक है- वैद्य, चिकित्सा, दीर्घायुष्य, तेज, ज्योति, बल, शक्ति आदि।

अथर्ववेद और आयुर्वेद- आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी अंगों और उपांगों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद आयुर्वेद का मूल आधार है। इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित निम्न विषयों को वर्णन प्राप्त होता है- भिषज् या वैद्य के गुण-कर्म, भैषज्य, शरीरांग दीर्घायुष्य, नीरोगता, तेज वर्चस्, वशीकरण, वाजीकरण, रोगनाशक विभिन्न मणियां, विविध औषधियों के नाम और गुण-कर्म, रोग नाम एवं चिकित्सा, कृमिनाशन, सूर्यचिकित्सा, जलचिकित्सा, विषचिकित्सा, पशुचिकित्सा, प्राण-चिकित्सा, शल्य-चिकित्सा आदि।

आयुर्वेद के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक पक्ष का विकास अथर्ववेद के काल

Scanned with CamScanner

तक हो चुका था। अथर्ववेद में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों एवं उसके अंगों से सम्बन्धित सामग्री पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है। वैदिक काल में चिकित्सा केवल मन्त्र-तन्त्र, देवाराधना, जादू-टोना और हवन द्वारा नहीं होती थी, अपितु अथर्ववेद में रोगों के प्रकार, उपचार में औषधियों का प्रयोग, शस्त्रकर्म आदि के द्वारा भी होती थीं। शरीर के अंग-प्रत्यंगों का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद में 360 अस्थियों का निर्देश प्राप्त है। वैदिक मन्त्रों में सैकड़ों हजारों शिराओं और धमनियों का वर्णन है। इससे ये अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषियों को इनके विषय में ज्ञान था।

शतस्य धमनीनां सहस्त्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिनमध्यमाः इमाः साकमन्ता अरंसत।।
इमा यास्ते शतं हिराः सहस्त्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना विलमप्यधाम्।।

शतपथ ब्राह्मण में भी 360 अस्थियों का वर्णन प्राप्त होता है। मैक्डोनल और कीथ ने भी लिखा है कि "वैदिककालीन भारतीय लोगों की रूचि बहुत पहले ही शरीर शास्त्र में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर आकृष्ट हो गई थी। अथर्ववेद में मानव शरीर के विविध अंगों का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्राप्त होता है।"[1]

अथर्ववेद में ही इस वेद को भेषज् या भिषग्वेद के नाम से पुकारा गया है। गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के मन्त्रों को आयुर्वेद से सम्बद्ध बताया है और अथर्वा का अर्थ भेषज् किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या में प्राण को अथर्वा कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणविद्या या जीवन-विद्या आथर्वण विद्या है।

अथर्ववेद में अनेक औषधियों का प्रयोग रूप-साधर्म्य के आधार पर मिलता है। औषधियों के खनन के समय तथा प्रयोग के समय मन्त्रोच्चारण होता था। अथर्ववेद में एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है कि कैरातिका औषधि खनती है और युवा भिषज् आकर उसका विनियोग करता है। औषधियों की संख्या हजारों में थी। ज्ञानपूर्वक औषधियों का जो प्रयोग करता था, वही योग्य भिषज् माना जाता था।

औषधियों के राजा के रूप में सोम का वर्णन ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है। अश्विनीकुमारों का वैद्य के रूप में औषधि सोम के साथ सम्बन्ध

---

1. F.I.O.C. Proceeding Vol. II. p. 415

Scanned with CamScanner

देखा जाता है। सुश्रुत आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी सोम को औषधि के रूप में वर्णित किया है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में हजारों औषधियों का ज्ञान था और अष्टाङ्ग आयुर्वेद के ज्ञाता भिन्न-भिन्न चिकित्सा पद्धतियों के प्रयोग करने वाले चिकित्सक थे। जिस नक्षत्र में असुरों के सैकड़ों प्रहारों से आहत हुए देवताओं की चिकित्सा की गई और उन्हें आरोग्य लाभ हुआ, उस नक्षत्र को शत्भिषक कहते हैं-**"यच्छतमाभिषज्यन तच्छतभिषक्"**

वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों को लाखों औषधियों के उपयोग और उनके लाभ का ज्ञान था। उपनिषदों में नाड़ी परीक्षा आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। प्राचीन काल में यौगिक क्रियाओं का ज्ञान था इसका ज्ञान हमें मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त योगावस्था की मूर्तियों को देखकर होता है।

अश्वमेघ यज्ञ की वैदिक यज्ञों में बड़ी प्रतिष्ठा थी। चक्रवर्ती सम्राट के द्वारा गौरव प्राप्ति और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए अश्वमेघ यज्ञ किया जाता था। अश्वमेघ के अनुष्ठान के समय महर्षियों के सम्मुख भिन्न-भिन्न गाथाएं गाई जाती थी और तीसरे दिन भेषज् विद्या का कीर्तन किया जाता था। ऐसा आश्वलायन और शांखायन सूत्रों में वर्णन प्राप्त होता है। मैक्समूलर ने भी 'भेषज्विद्या' के कीर्तन का वर्णन किया है। इससे भैषज् विद्या का महत्त्व प्रतिपादित होता है।

प्राचीन मन्दिरों में खुदे हुए भैषज्य विषयक सन्दर्भो के शिलालेखों में प्राप्त भैषज्य विषयक प्रसंगों के और वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद विषयक प्रसंगों के प्राप्त होने से यह ज्ञात हो जाता है कि भारतीय भैषज्य विद्या व्यापक रूप में फैली हुई थी और इसको गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। अतः भारतीय भैषज्य विद्या का मूल स्रोत आयुर्वेद ही है।

अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद भी है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म शब्द से भी भेषज् और भिषग्वेद का बोध है। जो अथर्वा है, वह भेषज् है, जो भेषज् है वह अमृत है, जो अमृत है, वह ब्रह्म है। अर्थात् भेषज् और ब्रह्म शब्द समानार्थक हैं। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार अङ्गिरस का सम्बन्ध आयुर्वेद और शरीर विज्ञान से है। अङ्गों के रसों अर्थात् तत्त्वों का जिसमें वर्णन किया जाता है, वह अङ्गिरस है। अंगों से जो रस निकलता है, वह अंगरस है, उसी को अङ्गिरस् कहा जाता है। गोपथ में अन्यत्र वर्णन है कि रस या रसायन-विज्ञान को अङ्गिरस कहते हैं।

Scanned with CamScanner

2
आयुर्वेद की आचार्य परम्परा

प्राचीन काल में जब आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार हुआ तो आयुर्वेद तीन सम्प्रदायों में विभाजित हुआ–

1. आत्रेय सम्प्रदाय:- इस सम्प्रदाय में अग्निवेश आदि ने अपनी संहिताएं लिखी। इस सम्प्रदाय की संहिता कायचिकित्सा प्रधान हैं।

2. धान्वन्तर सम्प्रदाय:- इस सम्प्रदाय में सुश्रुत आदि ने अपनी संहिताएं लिखी। इस सम्प्रदाय की संहिता में शल्यतन्त्र की प्रधानता देखी जाती है।

3. काश्यप सम्प्रदाय:- इस सम्प्रदाय में काश्यप आदि ने अपनी संहिता लिखी। इस सम्प्रदाय की संहिता कौमारकृत्य प्रधान है। किन्तु पाठ्यक्रम विशेष में उपर्युक्त आत्रेय और धान्वन्तर सम्प्रदाय का विषय ही अपेक्षित है।

इन संहिताओं से पूर्व भी ब्रह्मसंहिता, इन्द्रसंहिता तथा भास्करसंहिता के अस्तित्व का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु ये संहितायें सम्भवत: ग्रन्थरूप में निबद्ध नहीं थी। विषय के समस्त अंग जिसमें समाहित हों, उसे संहिता कहते हैं।

प्राचीन काल में आयुर्वेद की अनेक संहिताओं की रचना विभिन्न महर्षियों के द्वारा हुई। उन संहिताओं के अस्तित्व का ज्ञान परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के द्वारा होता है। आत्रेय और धान्वन्तर सम्प्रदाय के आचार्यों ने आयुर्वेद के समस्त विषयों का संकलन संहिता के रूप में किया है।

2.1 आचार्य आत्रेय की परम्परा

आत्रेय अत्रि के पुत्र तथा शिष्य दोनों थे। प्रथम गुरु परम्परा में महर्षि भगवान् आत्रेय हैं। जिनके अन्य नाम पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय हैं। परन्तु चरकसंहिता में भिक्षु आत्रेय का नाम भी आया है। हिमालय प्रदेश में रोगों के नाश हेतु विचार के लिए जब गोष्ठी का आयोजन हुआ था। उसमें आत्रेय और भिक्षु आत्रेय दोनों के

Scanned with CamScanner

अलग-अलग नाम आये हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि भिक्षु आत्रेय अन्य महर्षि थे।

भारद्वाज ने इन्द्र द्वारा प्राप्त समस्त आयुर्वेद का जिन ऋषियों को उपदेश दिया उनमें आत्रेय प्रमुख थे। आत्रेय ने अपने इस ज्ञान को अपने छः शिष्यों शिष्यों को दिया था। उनके शिष्यों के नाम इस प्रकार है- अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। इन ऋषियों ने जो ज्ञान प्राप्त किया, उसे उन्होंने अपनी अलग-अलग संहिताओं में निवद्ध किया। किन्तु अग्निवेश संहिता ही अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त कर सकी, उसी संहिता को बाद में चरक और दृढ़बल ने ग्रहण किया और परिष्कृत और परिवर्धित करके उसे संकलित किया। वह संहिता चरकसंहिता के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुई। आज भी यह आयुर्वेद की प्रधान संहिता मानी जाती हैं।

आयुर्वेद का लौकिक उपदेश आत्रेय के काल में ही प्रारम्भ हुए थे। इस समय का जन-जीवन रोगग्रस्त था और उपचार की कोई व्यवस्था नहीं थी। रोगग्रस्त जीवन से मुक्ति पाने के लिए आयुर्वेद का विस्तार करके त्रिस्कन्ध संहिताओं का निर्माण किया गया वे त्रिस्कन्ध निम्नवत् हैं-

1. हेतुस्कन्ध 2. लिङ्गस्कन्ध 3. औषधस्कन्ध

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।।

च.सू. 1/24

इनके शिष्य भेल ने भेलसंहिता का निर्माण किया। वह आजकल खण्डित अवस्था में प्राप्त है तथा उसके बहुत से अंश नष्ट या लुप्त हो गये हैं। जतूकर्ण, पराशर और क्षारपाणि ने भी संहिताओं की रचना तो की थी, परन्तु वे प्राप्य नहीं हैं। यहाँ-वहाँ टीकाओं में उनके उद्धरण प्राप्त होते हैं। हारीत ने जिस हारीतसंहिता की रचना की वह प्राप्त नहीं होती है। जो हारीत संहिता प्राप्त होती है, उसकी भाषा शैली से वह ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी परवर्ती विद्वान् की लिखी हुई है।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता की रचना अग्निवेश ने की और अग्निवेश के गुरु ही महर्षि आत्रेय हैं। अपने गुरु के उपदेशानुसार ही इन्होंने ग्रन्थ की रचना की। इनके विषय में एक बात यह भी है कि जब भी महर्षियों की

Scanned with CamScanner

गोष्ठी अथवा सम्मेलन होते थे, उसकी अध्यक्षता महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने की। इन सम्मेलनों में प्रस्तुत विचारों को सुनकर महर्षि आत्रेय ने जो निर्णय भी दिया। वह सर्वमान्य रहा।

अग्निवेश

पुनर्वसु आत्रेय के शिष्यों में सर्वप्रथम अग्निवेश का नाम आता है। जिन्होंने आत्रेय के उपदेशों को 'चरकसंहिता' इस तन्त्र के रूप में निबद्ध किया। इसी कारण इस ग्रन्थ का मुख्य अथवा प्रारम्भिक नाम 'अग्निवेशतन्त्र' है। इनकी बुद्धि अत्यन्त विस्तृत और कुशाग्र थी, इसी कारण अन्य शिष्यों, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत एवं क्षारपाणि में सबसे पहले अपनी संहिता की रचना करके गुरुदेव पुनर्वसु आत्रेय को सुनाया। जिसे सुनकर महर्षि आत्रेय अत्यन्त प्रसन्न हुए। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि गुरुवर आत्रेय ने महर्षि अग्निवेश को कोई विशेष शिक्षा दी थी। जिस कारण उन्हें प्रथम संहिताकर्ता का स्थान प्राप्त हुआ। यह तो महर्षि अग्निवेश की विशिष्ट प्रतिभा के कारण हो पाया। इसके वाद दूसरे महर्षियों ने संहिता रचना की और गुरु को अपने-अपने संहिता को सुनाया। इन तन्त्रों के निर्माण के बाद चारों ओर साधु-साधु यह साधुवाद होने लगा। महर्षि चरक ने तो इस प्रकार कहा है-

शिवो वायुर्ववो सर्वा भाभिरुन्मीलिता दिशः।
निपेतुः सजलाश्चैव दिव्याः कुसुमवृष्टयः।।

च.सू. 01/38

अर्थात् कल्याणकर वायु बहने लगी, सारी दिशाएँ दैदीप्यमान हो गई तथा जल के साथ दिव्यपुष्पवृष्टि होने लगी।

तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणि परमर्षिभिः।
भवाय भूतसङ्घानां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे।।

च.सू. 1/40

इन महर्षियों द्वारा रचित तन्त्रों को सभी श्रेष्ठ महर्षियों ने माना और विश्व में प्राणिसमूह की स्थिति के लिए तन्त्र प्रतिष्ठा को प्राप्त किया। इसका भाव यह है कि ये तन्त्र जनसमुदाय के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए, परन्तु आज वे सभी विलुप्त हो गये। उनमें अग्निवेशतन्त्र ही केवल प्राप्त है, वह चरकसंहिता इस नाम

Scanned with CamScanner

से जाना जाता है। चरकसंहिता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में अग्निवेश का नाम आया है-

'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते;

2.2 आचार्य धन्वन्तरि की परम्परा

भारतवर्ष ने अपनी गणना सर्वश्रेष्ठ और प्राचीन सभ्यता और संस्कृति से विश्व के देशों में करवा रखी है। इस देश के नामकरण के संस्कार में धर्मशास्त्रों में विशेष विधियों का वर्णन है। चरक संहिता, शारीरस्थान (अ० 8) में बालक का नाम नक्षत्र या देवता के नाम पर या प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित तीन पीढ़ी के पूर्वजों के नाम के अक्षर से युक्त छोटा सा दो या चार अक्षर वाला रखना चाहिए, ऐसा निर्देश दिया गया है।

इसी से किसी विशेष गुण के आधार पर अथवा व्यक्ति के किसी विशेष गुण के आधार पर नाम रखने की प्रथा का प्रचलन हो गया। धन्वन्तरि नाम भी विशेष गुण बोधक प्रतीत होता है। धन्वन्तरि शब्द की व्युत्पत्ति सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इस प्रकार की है-

"धनुः शल्यशास्त्रं तस्य अन्तं पारम् इयति गच्छतीति धन्वन्तरिः"।

सु.सू.1/3

अर्थात् शल्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् को धन्वन्तरि कहते हैं।

धन्वन्तरि का नाम वैद्यकशास्त्र के जन्मदाता के रूप में प्रचलित हैं। ये चिकित्सा-परम्परा के आद्यप्रवर्तक है। शल्य एवं चिकित्साशास्त्र के आचार्य तथा उपदेशक के रूप में जिस धन्वन्तरि का वर्णन है उनका पूरा नाम 'दिवोदास काशिराज धन्वन्तरि है। शल्य-प्रधान चिकित्सा का उपदेश इन्होंने ही सुश्रुत आदि आचार्यों को दिया। इन्हीं के उपदेशों को संकलित करके 'सुश्रुतसंहिता' की रचना की गई है तथा इनके सहपाठी औपधेनव आदि ने अलग-अलग सहिताएँ बनाई।

अतः दिवोदास के पूर्वजों में इनके प्रपितामह का नाम भी धन्वन्तरि था। अपने पूर्वजों के नाम पर नाम रखने की परम्परा भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर देखी जाती है। कई स्थानों पर तो गोत्र के नाम पर, गुणवाचक पदों के नाम पर और उपाधिवाचक पदों के नाम भी देखे जाते हैं। धन्वन्तरि शब्द भी उपाधिवाचक प्रतीत होता है।

Scanned with CamScanner

धन्वन्तरि नामक तीन आचार्यों का वर्णन इतिहास में दृष्टिगोचर होता है, उन तीनों का वर्णन निम्नवत् है-

धन्वन्तरि (प्रथम):-काश्यपसंहिता में यह उल्लिखित है कि काल के द्वारा ग्रसित देवता और असुर ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा ने इनको अमृत के बारे में बताया। इसी के बाद देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्रमन्थन किया और अमृत को प्राप्त किया। इसके बाद इसके प्रथम सेवन पर प्रश्न उठा। इसके बाद यह निष्कर्ष निकला कि देवता ही इसका प्रथम सेवन करेंगे। तब देवताओं ने इसका सेवन किया और अजर-अमर हो गये। देवता अमृतपान करने के बाद काल को पराजित करने में समर्थ हुए।

पुराणों में भी धन्वन्तरि भगवान् विष्णु के अंश माने जाते हैं, जो समुद्रमन्थन से अमृतकलश लिए हुए प्रकट हुए। धन्वन्तरि की गणना समुद्र से प्राप्त चौदह रत्नों में की जाती है-

श्री, मणि, रम्भा, वारुणी, अमिय, शंख, गजराज।
कल्पद्रुम, शशि, धेनु, धनु, धन्वन्तरि, विष, वाजि।।

श्री नन्दूलाल दे ने वर्तमान समय के कैस्पियन सागर को ही क्षीर सागर माना है। इसी स्थान पर मनुष्य देवता और असुर निवास करते थे। इसके चारों ओर पर्वत थे उन पर्वतों पर विभिन्न प्रकार की औषधियाँ थी।

देवताओं और असुरों ने जब समुद्रमन्थन का निश्चय किया तो वासुकि (नाग) को रज्जु और मन्दराचल को मथानी बनाया। इसी के बाद धर्मात्मा धन्वन्तरि आयुर्वेदमय दण्ड और कमण्डल धारण किए हुए प्रकट हुए। वह धन्वन्तरि थे। यह अत्यन्त प्रसिद्ध दृष्टान्त है।

महाभारत में भी जो समुद्रमन्थन का वर्णन प्राप्त होता है। उसमें धन्वन्तरि का उल्लेख प्राप्त होता है। हरिवंशपुराण में भी समुद्रमन्थन से धन्वन्तरि के प्रादुर्भाव का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि धन्वन्तरि (प्रथम) का जन्म अमृतोत्पत्ति के समय हुआ और इनका काल समुद्रमन्थन काल है।

धन्वन्तरि के गुरु और उनके ग्रन्थ

गुरुः-चिकित्सा का ज्ञान धन्वन्तरि को भास्कर से प्राप्त हुआ। मत्स्यपुराण में कहा है कि समुद्रमन्थन के समय प्राप्त रत्नों में से भास्कर ने धन्वन्तरि को ग्रहण किया-

Scanned with CamScanner

गजेन्द्रं च सहस्त्राक्षो हयरत्नं च भास्करः।
धन्वन्तरिञ्च जग्राह लोकोरोगप्रवर्तकम्।।

मत्स्य पु. 251/4

उपर्युक्त कथन से तो भास्कर धन्वन्तरि के गुरु ही प्रतीत होते हैं। धन्वन्तरि के लिए आदिदेव, अमरवर, अमृतयोनि, अब्ज आदि विशेषों का प्रयोग सुश्रुतसंहिता आदि ग्रन्थों में मिलता है।

ग्रन्थ:-भास्करसंहिता धन्वन्तरि के गुरु भास्कर ने लिखी। इसी संहिता का अध्ययन करके भास्कर के शिष्यों ने अपनी-अपनी संहिताओं की रचना की। ब्रह्मवैवर्त में लिखा है कि धन्वन्तरि ने 'चिकित्सातत्त्वविज्ञानतन्त्र' की रचना की-

चिकित्सातत्त्वविज्ञानं नाम तन्त्रं मनोहरम्।
धन्वन्तरिश्च भगवान् चकार प्रथमे सति।।

(ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्मखण्ड अ.-16)

धन्वन्तरि विष्णु के अंश माने जाते हैं। अत: भारतीय चिकित्सालय में इनकी चतुर्भुज मूर्ति ही विशेष रूप से देखी जाती है। यह पूर्णरूपेण स्पष्ट उल्लेख प्राप्त न होने के कारण मनुष्य रूप में दो भुजाओं वाली मूर्ति की कल्पना भी की गई है।

धन्वन्तरि (द्वितीय)

धन्वन्तरि द्वितीय से तात्पर्य उस धन्वन्तरि से है, जिन्होंने काशी के चन्द्रवंशी राजकुल में सुनहोत्र वंश में चौथी पाँचवी पीढ़ी में जन्म लिया। हरिवंश, ब्रह्माण्ड पुराणादि अन्य पुराणों के अनुसार उनका वंश निम्नवत् है

सुहोत्र	सुनहोत्र	सुनहोत्र	सुनहोत्र
↓	↓	↓	↓
काशिक	काश	काश	प्रकाशिराट्
↓	↓	↓	↓
दीर्घतपा	दीर्घतपा	दीर्घतपा	↓
↓	↓	↓	↓
धन्वन्तरि द्वितीय	धन्व	धन्वन्तरि	धन्ववन्तरि
↓	↓	↓	↓
केतुमान	धन्वन्तरि	केतुमान	केतुमान
↓		↓	↓

contd.....

Scanned with CamScanner

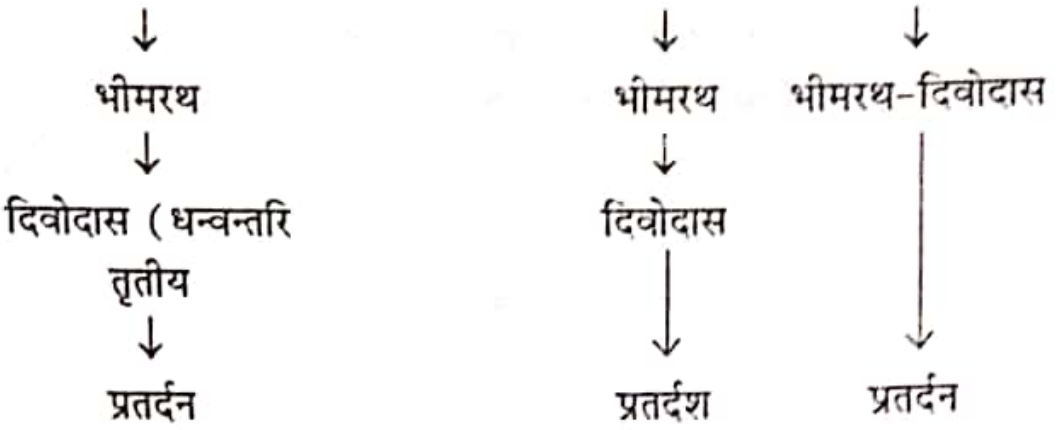

यह वंशावलि प्राप्त तो है परन्तु इसमें भी मतैक्य नहीं है। किसी ने दीर्घतपा का पुत्र धन्वन्तरि, तो किसी ने दीर्घतपा का पुत्र धन्व और उसका पुत्र धन्वन्तरि माना है, परन्तु दूसरी वंशावली के अनुसार प्रकाशिराट् के पुत्र धन्वन्तरि माने हैं।

दीर्घतपा के पुत्र धन्वन्तरि को भागवतपुराण और गरुडपुराण में आयुर्वेद का प्रवर्तक माना है।

समय:- रामायण के उत्तरकाण्ड में उल्लिखित है कि दशरथ पुत्र राम त्रेता-द्वापर के संधि काल में हुए। प्रतर्दन उनका मित्र था, जो काशीपति था। राम के राज्याभिषेक में प्रतर्दन उपस्थित था (रामा.उ. 38/15)। त्रेता और द्वापर का संधि काल 300 वर्ष का था। अत: प्रतर्दन के चार पीढ़ी ऊपर धन्वन्तरि द्वितीय का समय था। धन्वन्तरि द्वितीय का समय विक्रम संवत् से लगभग 5044 वर्ष पूर्व था।

हरिवंशपुराण में धन्वन्तरि द्वितीय के लिए विद्वान् विशेषण का प्रयोग किया गया है। भागवतपुराण में इन्हें सभी रोगों को नष्ट करने वाला और आयुर्वेद प्रवर्तक कहा गया है। इससे यह तो ज्ञात हो जाता है कि ये चिकित्सा में निपुण, सिद्धहस्त वैद्य अनेक विद्याओं को जानने वाले हैं। शल्यचिकित्सा में पारङ्गत विद्वान् होने के कारण इनका नाम धन्वन्तरि रखा गया हो।

धन्वन्तरि (तृतीय) काशिराज दिवोदास

आयुर्वेद में शल्यप्रधान चिकित्सा के पितारूप में धन्वन्तरि नाम लिया जाता है। धान्वन्तर सम्प्रदाय को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है। वह इनकी कार्यकुशलता का ही परिणाम है। धन्वन्तरि चिकित्सा के जगत् में शल्यकर्म के विशेषज्ञ आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं।

वाराणसी नगर के संस्थापक दिवोदास थे। आयुर्वेद की परम्परा काशिराज

Scanned with CamScanner

के कुल में अक्षुण्ण रही है। प्रत्येक काल में आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार किया जाता रहा है। इस परम्परा को दिवोदास ने प्रसिद्ध बनाया। इन्होंने आयुर्वेद की शिक्षा-दीक्षा विद्यापीठ के रूप में देना आरम्भ किया। दूर-दूर से शिष्य इनके यहाँ विद्याध्ययन के लिए आते थे। इनके शिष्यों में सुश्रुत के अलावा औपधेनेव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य और गोपुररक्षित का नाम आता है-

'अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृत्तमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासंधन्वन्तरिमौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुर-रक्षितसुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः। सु.सू. 1/3

यहाँ पर आए प्रभृति शब्द से डल्हण ने निमि, कांकायन, गार्ग्य और गालव को लिया है। वाराणसी के आसपास जो नाम प्रचलित थे। उनसे भिन्न इन शिष्यों के नाम हैं। इस प्रकार यह हो सकता है कि ये शिष्य दूर देशों से पढ़ने के लिए आए होंगे। धन्वन्तरि को अलग-अलग नामों से पुकारा गया है जैसे-

सुश्रुतसंहिता (चि. 2/3) में धर्माचरणयुक्त वाग्विशारद

निदानस्थान (1/3) में राजर्षि

कल्पस्थान (4/3) में महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद

उत्तरतन्त्र (18/3) में तपोदृष्टि उदान तथा मुनि।

इन विशेषणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि धन्वन्तरि, परमतपस्वी, शास्त्रज्ञ, धर्मात्मा और उदार मन वाले व्यक्ति थे। सुश्रुत उत्तर तन्त्र में इन्हे अष्टाङ्ग आयुर्वेद का विद्वान्, महाओजस्वी, शास्त्रों के अर्थ से सम्बन्धित सन्देह को दूर करने वाले तथा सूक्ष्म शास्त्रों के ज्ञाता हैं-

अष्टाङ्गवेदविद्वांसं दिवोदासं महौजसम्।
छिन्नशास्त्रार्थसन्देहं सूक्ष्मागाधगमोदधिम्।।

इन्होंने अपना स्वयं का परिचय इस प्रकार प्रकार दिया है कि ये पहले देववैद्य थे तथा इन्होंने देवताओं की जरा, रुजा और मृत्यु को दूर करके अजर अमर और नीरोग किया। शल्य प्रधान आयुर्वेद के लिए ये मानव रूप में अवतरित हुए-

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्।

सु.सू. 1/17

Scanned with CamScanner

समय:-धन्वन्तरि के मत को चरकसंहिता में अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है। शल्यज्ञ धान्वन्तर सम्प्रदाय के लोगों का शल्य चिकित्सा पर अधिकार बताया गया है। परन्तु आत्रेय का सुश्रुत संहिता में कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि दिवोदास, आत्रेय एवं अग्निवेश के कुछ समय पूर्व के थे। अग्निवेश का समय 1000 ई.पू. माना जाता है तो अक्षयकुमार मजूमदार ने धन्वन्तरि का समय 1600 ई. पू. और भीमरथ के पुत्र दिवोदास का समय 1500 ई० पू० माना है। दिवोदास का समय 1000 से 1500 ई.पू. माना जाना उचित है।

गुरु:- **"इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमार्थिभ्य: प्रजाहितहेतो"** अर्थात् मैंने इन्द्र से शिक्षा ग्रहण की और मैं प्रजा के कल्याण के लिए शिष्यों को इसे दूँगा ऐसा इन्होंने स्वयं ही कहा है। सू.सू. 1/20)

इनके गुरु भरद्वाज थे, ऐसा हरिवंशपुराण में कहा है। उन्हीं से इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया –

आयुर्वेदं भारद्वाजात् प्राप्येह भिषजां क्रियाम्।
तमष्टधा पुनर्व्वस्यं शिष्येभ्य: प्रत्यपादयत्।।

हरिवंश पर्व 1/अ. 29

ग्रन्थ:-इनके द्वारा रचित ग्रन्थ **चिकित्सादर्शन** और **चिकित्साकौमुदी** हैं इनका उल्लेख ब्रह्मवैवर्त खण्ड अ. 16 में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ग्रन्थों का नाम भी पूना की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची सं. 360 में प्राप्त है, जो इस प्रकार हैं-

1. योगचिन्तामणि
2. सन्निपातकलिका
3. धातुकल्प
4. अजीर्णामृतमञ्जरी
5. धन्वन्तरिनिघण्टु
6. रोगनिदान
7. वैद्यचिन्तामणि
8. वैद्यभास्करोदय
9. चिकित्सासंग्रह आदि।

Scanned with CamScanner

अतः धन्वन्तरि का वर्णन महाभारत, हरिवंशपुराण, वायुपुराण, काठकसंहिता, कौषितकी ब्राह्मण, कौषितकी उपनिषद् आदि में होने से ये उपनिषत्कालीन प्रतीत होते हैं। रामायण और महाभारत के युद्धों के समय भी शल्य चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। बाण चुभने पर शल्यकर्म किया जाता है। अतः यह अति प्राचीनकाल से चला आ रहा है। अथर्ववेद में भी भग्नसन्धान के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं पुराणों में दिवोदास धन्वन्तरि का वर्णन होने से इसकी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

Scanned with CamScanner

3

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थकार एवं उनके ग्रन्थ

प्राचीन काल में आयुर्वेद की अनेक संहिताओं की रचना विभिन्न महर्षियों द्वारा हुई। उस समय ये संहिताएं 'तन्त्र' नाम से प्रसिद्ध थी। तन्त्र शब्द विस्तार एवं रक्षा का बोधक है। जिसमें विषयों का वर्णन संक्षिप्त हो, परन्तु भविष्य में उनके विस्तार की संभावना हो तथा सम्पूर्ण विषय सुरक्षित रहे वह तन्त्र हैं। जिन ग्रन्थों में भाष्यरूप में विस्तृत विषयों का वर्णन हो उन्हें संहिता संज्ञा दी जाती है। किसी विषय के सभी वर्णनीय विषयों का जिस ग्रन्थ में वर्णन हो उसे 'संहिता' कहते है।

"परः सन्निकर्षः संहिता" (पाणिनि)।

अर्थात् एक प्रकार के विषयों को जहाँ पर संग्रह किया जाये, उसे संहिता कहते हैं।

आयुर्वेद की अनेक संहिताओं का नाम विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, उनमें से अधिकांश के केवल नाम ही शेष हैं। प्राचीन संहिताओं में चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेलसंहिता और काश्यपसंहिता ही प्राप्त होती हैं। पूर्ण तो चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता ही पूर्ण रूप में प्राप्त होती है शेष दो खण्डित और पूर्ण भी नहीं हैं।

हारीतसंहिता नाम से एक संहिता प्राप्त होती है, जिसकी भाषा शैली और विषयवस्तु से वह एक सामान्य व्यक्ति की रचना प्रतीत होती है। आचार्य वाग्भट कृत दो ग्रन्थों अष्टाङ्गहृदय और अष्टाङ्गसंग्रह की गणना भी संहिताओं में की जाती है। इनमें से अष्टाङ्गहृदय ही अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है।

3.1 चरक-चरकसंहिता

प्राचीनकाल में ऋषियों को दो प्रकार का माना गया है- शालीन और

Scanned with CamScanner

यायावर। शालीन प्रकार के ऋषि कुटी बनाकर रहते थे और यायावर ऋषि घूमते रहते थे। चरक भी यायावर कोटि के ऋषि थे जो एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते थे। उन्होंने ग्राम्यवास की निन्दा की है। उन्होंने गोष्ठियों का आयोजन भी अरण्य प्रदेशों में किया। चरक उच्चकोटि के कवि थे। उन्होंने चरकसंहिता में परिमार्जित श्लिष्ट गद्य और पद्य का प्रयोग किया है। जो विषय अग्निवेशतन्त्र में सूत्ररूप में संक्षिप्त थे, उन विषयों की चरक ने विस्तृत व्याख्या की है)

चरक का काल:-(7वीं शती ई.पू.) चरक के काल की ऊपरी सीमा पर विचार के लिए पाणिनि के द्वारा उदधृत चरक शब्द और बौद्धधर्म की छाया (5वीं शती ई.पू.) पर विचार किया जा सकता है क्योंकि पाणिनी ने चरक शब्द का प्रयोग किया है और चरकसंहिता पर बौद्धधर्म धर्म का छाया की बात को नकारा नहीं जा सकता है। जेन्ताक, खुड्डाक, खुड्डिका, आयतन, वेदना, जाति और गर्भावक्रान्ति आदि शब्दों का प्रयोग बौद्ध छाया का सूचक है।

इनकी निम्न सीमा पर विचार के लिए भी अनेक तथ्य हैं – वाग्भट प्रथम ने चरक को स्पष्टत: उदधृत किया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (तीसरी शती) ने चरक के अनेक विषयों का वर्णन किया है। शकों के सम्प्रदाय में चरक का नाम प्रचलित था और उन्हीं में से एक कनिष्क का वैद्य था।

अत: सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के जो संकेत चरकसंहिता में प्राप्त होते हैं उनके अनुसार शुंगकाल (दूसरी शती ई.पूर्व) मानना चाहिए।

चरक संहिता के निर्माण के स्तर

1. अग्निवेश – मूलतन्त्रकार – काल 1000 ई.पू. है
2. चरक – इनका काल दूसरी शताब्दी है।
3. दृढ़बल – गुप्तकालीन है। काल चौथी शती है। इन्हीं के द्वारा चरकसंहिता का अन्तिम प्रतिसंस्कार हुआ।

चरकसंहिता के आदि आचार्य अग्निवेश है इन्होंने आत्रेय के उपदेशों का सूत्र रूप में संकलन किया, यह पहला स्तर है। दूसरे स्तर में चरक ने अग्निवेशतन्त्र को भाष्य के रूप में विस्तृत किया। इसके बाद दृढ़बल ने जिस अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया वह अधूरा था। उसमें चिकित्सास्थान के तीस के स्थान पर तेरह अध्याय थे। कल्पस्थान और सिद्धिस्थान भी नहीं था। चिकित्सास्थान के

Scanned with CamScanner

सत्रह अध्यायों में कल्पस्थान और सिद्धिस्थान को जोड़कर ग्रन्थ को पूर्ण किया। इस प्रकार आदि आचार्य अग्निवेश, दूसरे संस्कर्ता चरक और तीसरे प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल से प्रतिसंस्कारित 'चरकसंहिता' का वर्तमान स्वरूप सामने आया। दृढ़बल के प्रतिसंस्कार के बाद यह प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई यह तृतीय स्तर है।

चरकसंहिता का विषय-विभाग

	स्थान	अध्याय	विषय
1.	सूत्रस्थान	30	मौलिक सिद्धान्त
2.	निदानस्थान	8	रोग-विज्ञान
3.	विमानस्थान	8	प्रमाण तथा चिकित्सा-सिद्धान्त
4.	शारीरस्थान	8	शरीर-रचना, दर्शन प्रसूति और कौमारभृत्य
5.	इन्द्रियस्थान	12	अरिष्ट लक्षण
6.	चिकित्सास्थान	30	चिकित्सा।

अन्तिम दो अध्याय संग्रहाध्याय कहे गये हैं। सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान में अध्यायों की अधिकतम संख्या है। इससे ज्ञात होता है कि चरक ने मौलिक सिद्धान्त और कायचिकित्सा का मुख्य रूप से वर्णन किया है। संशोधन चिकित्सा का वर्णन दो अध्यायों में किया गया है। चरकसंहिता मुख्यत: मौलिक सिद्धान्त एवं कायचिकित्सा का उपजीव्य ग्रन्थ है।

सिद्धिस्थान में प्राप्त श्लोक से सुश्रुतसंहिता के समान चरकसंहिता में उत्तरतन्त्र की सूचना देता है।

चरक के समय में ऋषि-परिषदें ज्ञानार्जन का उपाय मानी जाती थी अत: समय-समय पर ऋषि परिषदों का आयोजन किया जाता था और सभी अपने-अपने विचार रखते थे। अध्यक्ष द्वारा सिद्धान्त निर्णय लिया जाता था।

चरकसंहिता का महत्त्व एवं विशेषताएँ

चरकसंहिता आत्रेय सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। इसमें कायचिकित्सा का मुख्य रूप से उल्लेख किया गया है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान जिस समय शैशवावस्था में था। उस समय चरकसंहिता में प्रतिपादित आयुर्वेदीय विषयों से सम्पूर्ण संसार प्रभावित एवं आश्चर्यचकित था। आयुर्वेद की बृहत्त्रयी

Scanned with CamScanner

में चरकसंहिता का प्रथम स्थान है। वाग्भट ने भी चरकसंहिता को प्रथम स्थान दिया है। इसकी प्रमुख विशेषताओं पर हम इस प्रकार दृष्टिपात कर सकते हैं–

1. चरकसंहिता में संभाषा का विचार विस्तार से तथा मौलिक रूप में प्राप्त होता है। ज्ञानार्जन के तीन उपायों में संभाषा भी एक है। आयोजित परिषदों द्वारा अनुमोदित होने पर ही कोई सिद्धान्त या ग्रन्थ प्रचलित किया जाता था। चिकित्सा कर्म के लिए कहा है–**"वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्"** अर्थात् चिकित्सक भी गंभीर रोगों में परस्पर विचार विमर्श कर निर्णय लेते थे।
2. आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोष के अतिरिक्त पञ्चमहाभूत, रसगुणवीर्यविपाक आदि मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण वैज्ञानिक रीति से किया गया है। इन सिद्धान्तों को विकसित करने के लिए वस्तुओं के स्वभाव की तह तक पहुँचे। इस महान् कार्य में उन्होंने प्रकृति का पूरा उपयोग किया था। इन सिद्धान्तों का क्षेत्र केवल भारत ही नहीं रहा अपितु सारे विश्व में मूलतः चिकित्सापद्धतियों को इन्होंने प्रभावित किया।
3. परम्परागत चिकित्साकर्म के स्थान पर ज्ञानपूर्वक कर्म का उपदेश किया गया है– **"ज्ञानपूर्वकं कर्मणा समारम्भं प्रशसन्ति कुशलाः"**। चिकित्सक अपने उद्देश्य में ज्ञान और कर्म के समुचित सामञ्जस्य से ही सफलता पा सकता है। प्रमाणों में युक्ति को स्थान देना चरक की मौलिकता है। युक्तिज्ञ ही अपने कार्य में सफल हो सकता है।
4. शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को बड़ी सूक्ष्मता से देखा गया है और चिकित्सा और निदान में देहमानस की संश्लिष्ट धारणा को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक पुरुष की प्रकृति की विशेषता को ध्यान में रखकर ही चिकित्सा करने की बात कही है। इस प्रकार चिकित्सा एक अत्यन्त वैयक्तिक प्रक्रिया हो जाती है जो किसी दूसरे पर उसी प्रकार लागू नहीं हो सकती। सामान्य और विशेष का समन्वय चरक की विशेषता है।
5. आयुर्वेद का प्रारम्भ में संक्षिप्त रूप 'त्रिसूत्र' या त्रिस्कन्ध था। आयुर्वेद के तीन स्कन्ध थे–हेतु, लिंग और औषध। इन्हीं का ज्ञान करना होता था। द्रव्यों का साम्य-वैषम्य ही स्वास्थ्य एवं रोग का कारण है।
6. चरकसंहिता में निदान की वैज्ञानिक पद्धति का विधान है। रोग की परीक्षा

Scanned with CamScanner

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों को जानकर करने की बात कही है। इसके अतिरिक्त दोष, दूष्य, अग्नि, सत्त्व, प्रकृति आदि पर विचार किया जाता है।

7. चरक की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा है। चरक का कहना है कि औषध रोग को दबाने के लिए नहीं अपितु प्रकृति को सहायता देने के लिए प्रयुक्त होती है। चरक द्वारा उद्धृत 'स्वभावोपरमवाद' प्राकृतिक चिकित्सा का मूल है।

8. रोगों की रोकथाम और इलाज के अतिरिक्त उस समय महर्षियों का ध्यान वय: स्थापन और दीर्घायुष्य की ओर विशेष रूप से था। रसायन का विषय चरक का मौलिक है। औषधों के अतिरिक्त, आचार रसायन चरक की मौलिक देन है। बिना औषध के भी आचार का पालन करने से रसायन का फल प्राप्त होता है और बिना आचार पालन के औषधि भी बेकार है।

9. आयुर्वेदीय द्रव्यगुण को वैज्ञानिक आधार शिला पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय चरक को प्राप्त है। षट्पदार्थों, रसगुण वीर्यविपाक आदि, द्रव्यों का रचनानुसार तथा कर्मानुसार वर्गीकरण सर्वप्रथम चरकसंहिता में प्राप्त होता है। औषधों के नामरूपज्ञान के साथ प्रयोगज्ञान पर भी जोर दिया गया है। औषधियों का ज्ञाता नामरूप को जानने के साथ-साथ योगविद् वैद्य को माना गया है।

चरकसंहिता पर जिन आचार्यों की टीकायें प्रसिद्ध हैं वे निम्न हैं-

1. भट्टारकहरिश्चन्द्र - चरकन्यास
2. स्वामिकुमार - चरकपञ्जिका
3. जेज्जट - निरन्तरपदव्याख्या
4. चक्रपाणि - आयुर्वेददीपिका
5. शिवदाससेन - तत्त्वचन्द्रिका
6. गंगाधरराय - जल्पकल्पतरु
7. योगिन्द्रनाथसेन - चरकोपस्कार
8. ज्योतिषचन्द्र सरस्वती - चरकप्रदीपिका

इसके अतिरिक्त अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषा में भी चरकसंहिता का अनुवाद हुआ है।

Scanned with CamScanner

3.2 सुश्रुत–सुश्रुतसंहिता

दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को अपनी संहिता में निबद्ध करने वाले सुश्रुत ही थे। यह शल्यतन्त्र का उपजीव्य ग्रन्थ है। सुश्रुत नामक दो आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है एक आद्य या वृद्ध सुश्रुत और दूसरा सुश्रुत। कुछ स्थानों पर सुश्रुत और वृद्ध सुश्रुत एक ही दिखाई पड़ते है। अत: प्रतीत होता है कि दिवोदास का शिष्य आद्य या वृद्धसुश्रुत था जिसने मूल सुश्रुततन्त्र की रचना की। उसके बाद सुश्रुत द्वितीय या सुश्रुत ने इसे प्रतिसंस्कृत किया परन्तु यह ग्रन्थ तब भी अपूर्ण था। बाद में नागार्जुन ने प्रतिसंस्कार किया उसके बाद यह संहिता पूर्ण हुई। अन्तिम पाठ शुद्धि चन्द्रट द्वारा 10 वीं शती में हुई। वर्तमान सुश्रुतसंहिता 10वीं शती के बाद की है। सुश्रुतसंहिता निम्न स्तरों पर बनी–

1. वृद्ध सुश्रुत- (1000–1500 ई. पूर्व)
2. सुश्रुत (द्वितीय शताब्दी)
3. नागार्जुन (पाँचवी शताब्दी)
4. चन्द्रट (दसवीं शताब्दी)

इन तथ्यों के आधार पर काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि तथा वृद्ध सुश्रुत का समय ई.पू. 1000–1500 वर्ष माना जाता है। सुश्रुत का दूसरा संस्कार दूसरी शताब्दी का है। तृतीय संस्कार नागार्जुन का है, जो पाँचवीं शताब्दी का है। पाठशोधन संस्कार चन्द्रट ने दसवीं शताब्दी में किया। इस सुश्रुतसंहिता के निर्माण के चार स्तर हैं।

महाभारत के अुनशासन पर्व (अ. 4) में और गरुडपुराण (अ. 139/8–11) में सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बताये गये हैं। विश्वामित्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। उनमें से एक का सम्बन्ध आयुर्वेद से है।

सुश्रुतसंहिता का विषय विभाग

	स्थान	अध्याय	विषय-वस्तु
1.	सूत्रस्थान	46	मौलिक सिद्धान्त, शल्यकर्म के उपकरण, यन्त्र-शस्त्र, क्षार-अग्नि जालौका आदि। अरिष्ट विज्ञान, द्रव्यगुणविज्ञान आदि।
2.	निदानस्थान	16	प्रमुख रोगों का वर्णन।

Scanned with CamScanner

	स्थान	अध्याय	विषय-वस्तु
3.	शरीरस्थान	10	सृष्टिक्रम एवं शरीररचना-विज्ञान।
4.	चिकित्सास्थान	40	मुख्यत: शल्यचिकित्सा, वाजीकरण, रसायन और पंचकर्म का वर्णन।
5.	कल्पस्थान	8	अगदतन्त्र एवं विषों का वर्णन।

इस प्रकार अध्यायों की संख्या 120 है। प्राचीन संहिताओं में इतने अध्याय ही प्राप्त होते हैं। उत्तरतन्त्र बाद में जोड़ा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उत्तरतन्त्र में 66 अध्याय हैं। इसमें शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या का वर्णन है

सुश्रुतसंहिता की विशेषताएँ

सुश्रुतसंहिता भी चरकसंहिता के समान ही आयुर्वेद के विषयों से सम्बन्धित आकरग्रन्थ है। प्राचीन संहिताओं में चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता ये दो संहिताएं ही प्राप्त होती हैं।

सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है। यह शल्यसम्प्रदाय का प्राप्त प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसका चिकित्साविज्ञान चरक की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक और प्रायोगिक ग्रन्थ है। इससे उस समय के शल्यतन्त्र की उन्नत स्थिति ज्ञात होती है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् है-

1. सुश्रुत ने स्वयं ही विषय के शिक्षण में अध्ययन, अनुवर्णन, अनुश्रवण तथा कर्म इन सबका महत्त्व प्रतिपादित किया है। अध्ययन तभी पूर्ण होता है, जब अध्येता को शास्त्र के अर्थ का ज्ञान, व्यावहारिक क्रियाओं में दक्षता, कर्माभ्यास और चिकित्साकर्म की सफलता में पूर्ण विश्वास हो जाता है-

   तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
   तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः।।

   (सु.सू.-3/55)

2. सुश्रुत संहिता में यन्त्रशस्त्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मूढगर्भ, अश्मरी, अर्श आदि में शस्त्रकर्म को बताया है। व्रण के साठ उपक्रम बताए गए है। व्रणबन्ध की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है।
3. सुश्रुत में सर्वप्रथम शवच्छेद का वर्णन प्राप्त होता है। हृदय को काटकर

Scanned with CamScanner

उसके चार प्रकोष्ठों का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार सुश्रुत शल्यतन्त्र के साथ-साथ शरीरशास्त्र के भी जनक माने जाते हैं।

4. इसमें क्षार, अग्नि, जलौका (जोंक) का वर्णन भी प्राप्त होता है। रक्त निकालने के लिए सिराव्यध, जलौका, शृंग, अलाबू आदि विधियों का प्रयोग किया जाता था। दूषित रक्त को निकालने से शान्ति प्राप्त हो जाएगी ऐसा माना जाता है यह एक प्रकार की संशोधन चिकित्सा मानी गइ है। सिराव्याध को शल्य की आधी चिकित्सा कहा जाता है जैसे कायचिकित्सा में बस्ति। इसकी पञ्चकर्म में गणना की जाती है। इसे रक्त मोक्षण कहा जाता है।
5. सन्धान शल्य (Plastic Surgery) का भी सुश्रुतसंहिता में वर्णन है।
6. अतुरालय का वर्णन भी इसमें प्राप्त होता है। चिकित्सा के सभी अंगों के वर्णन के साथ, कुमारागार और सूतिकागार भी वर्णित है।
7. आत्ययिक (emergency) की अनेक अवस्थाओं उष्णवातातपदग्ध, शीतवर्षनिलहत धूमोपहत आदि का वर्णन है।
8. सुश्रुत का मौलिक सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। दोषविवेचन के क्रम में पित्त और अग्नि का विचार तथा पाचक, रञ्जक आदि भेद मौलिक कल्पना है।
9. शारीर का विस्तृत वर्णन मिलता है। रक्त का शिराओं में संचरण तथा उसके वर्ण के अनुसार सिराओं का अरुणा, नीला और गौरी में विभाजन भी नवीन है। '**नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः**' के द्वारा नाभि में प्राणों को बताया गया है।
10. सुश्रुत के अनुसार समदोष, समाग्नि, समधातुकर्म, आत्मा, मन तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता जिसमें पायी जाय वही स्वस्थ व्यक्ति है।

    कुष्ठ, ज्वर, शोष आदि का संक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में होना सर्वप्रथम सुश्रुत ने उल्लिखित किया था।
11. कायचिकित्सा के अन्तर्गत व्याधियों का वर्गीकरण विस्तृत है। पञ्चकर्म, शिरोबस्ति का विस्तृत उल्लेख है। तैलद्रोणी के द्वारा व्यक्ति को सुलाने का विधान है। रोगों के लिए विशिष्ट औषधियों को निर्धारित किया गया है। जैसे- कुष्ठ के लिए तुवरक, खदिर और बीजक; अर्श के लिए कुटज और भल्लातक, प्रमेह के लिए हरिद्रा, आढ्यावात के लिए गुग्गुलु आदि।

Scanned with CamScanner

12. द्रव्यगुण, भेषज्यकल्पना, अगदतन्त्र, रसायन, वाजीकरण, भूतविद्या, सैन्यचिकित्सा आदि का वर्णन है। मन्त्रों द्वारा भी चिकित्सा का वर्णन है। विषचिकित्सा मन्त्र प्रयोग प्रधान है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सुश्रुतसंहिता आयुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। विशेषत: शल्यतन्त्र के क्षेत्र में इसके अवदान अपूर्व एवं ऐतिहासिक है। सुश्रुत संहिता की संस्कृत हिन्दी और अंग्रेजी में टीकायें लिखी गई। कुछ संस्कृत टीकायें इस प्रकार हैं–

गयदास – वृहत् पञ्जिका या न्यायचन्द्रिका

चक्रपाणिदत्त – भानुमती

डल्हण – निबन्धसंग्रह।

हाराणचन्द्र – सुश्रुतार्थसंदीपन।

सुश्रुत पर टीकाओं के अतिरिक्त सुश्रुतसंहिता का देशी तथा विदेशी दोनों भाषाओं में अनुवाद हुआ है। विदेशी भाषाएं लैटिन, जर्मन, अरबी हैं तथा देशी भाषाएं मराठी बंगला आदि हैं।

3.3 वाग्भट – अष्टाङ्गसंग्रह

भारतीय वाङ्मय में अनेक वाग्भटों के बारें में उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु आयुर्वेद के क्षेत्र में चार वाग्भटों का परिचय प्राप्त होता है–

1. वृद्धवाग्भट
2. मध्यवाग्भट
3. लघुवाग्भट
4. रसवाग्भट

अष्टाङ्गसंग्रह के रचयिता वृद्धवाग्भट या वाग्भट प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है। वाग्भट ने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका में इस प्रकार दिया है–

'इति श्री सिंहगुप्तसुनुवाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदय-संहितामुत्तरस्थानं समाप्तम्'

इससे पता चलता है कि ये सिन्धु में जन्मे थे। इनके पिता सिंहगुप्त थे। इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से प्राप्त किया। इनके पितामह भी भिषक्

Scanned with CamScanner

थे। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आयुर्वेद का ज्ञान इन्हें अपने पूर्वजों से मिला।

इनका जन्म ब्रह्मण कुल में हुआ था और मूल रूप से वैदिकधर्मानुयायी ही थे परन्तु बौद्ध गुरु का शिष्य होने के कारण बाद में बौद्ध हो गए। ग्रन्थ के प्रारम्भ में बुद्ध को नमस्कार आदि बौद्ध तथ्यों की बहुलता के कारण वे बौद्ध ही माने जाते हैं।

समय:- वराहमिहिर (505-570 ई.) ने वाग्भट के रसायन योगों और ज्योतिष सम्बन्धी विचारों को लिया है। वराहमिहिर का सबसे अन्तिम ग्रन्थ वृहत्संहिता माना जाता है। यह वाग्भट के काल निर्धारण में संकेत का कार्य करता है। भट्टारक हरिशचन्द्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413 ई.) के काल में थे तथा वाग्भट इनके समकालीन थे। अत: वाग्भट का काल चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इन्दु और जेज्जट वाग्भट के शिष्ट थे। जेज्जट ने वाग्भट को उद्धृत किया है। भट्टारक हरिश्चन्द्र इन्दु से पहले हो चुके थे। अत: वाग्भट का काल भट्टारक हरिश्चन्द्र के समकालीन चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही ठहरता है। अष्यङ्गसंग्रह में शका राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है उनका राज्य भी पहली से चौथी तक रहा है।

चीनी यात्री इत्सिंग (671-695) ई. ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि एक व्यक्ति ने आठों अंगों का संग्रह बनाया है जो सम्पूर्ण भारत में फैल चुका था अत: यह स्पष्ट है कि इत्सिंग ने जिसका विवरण किया है वह वाग्भट का ग्रन्थ ही था। इससे वाग्भट का समय सावर्ती शताब्दी का पूर्व होना प्रमाणित हो जाता है। इन सब मतों के आधार पर वाग्भट का समय चौथी शताब्दी का अन्त गुप्तकाल प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गसंग्रह का विषय-विभाग:

अष्टाङ्गसंग्रह में 6 स्थान है और उन स्थानों का 150 अध्यायों में विभाजन है जो इस प्रकार है

1.	सूत्रस्थान -	अध्याय -	40
2.	शारीरस्थान -	अध्याय -	12
3.	निदानस्थान -	अध्याय -	16

Scanned with CamScanner

4.	चिकित्सास्थान -	अध्याय -	24
5.	कल्पस्थान -	अध्याय -	8
6.	उत्तरस्थान -	अध्याय -	50
	कुल अध्याय		150

वाग्भट ने इन अध्यायों में विषयों को वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित करने का पूरा प्रयास किया है।

इस विषय विभाजन से स्पष्ट होता है कि संग्रह की अपेक्षा सूत्रस्थान का संक्षिप्तीकरण किया गया है। शारीरस्थान आधा रह गया है। निदानस्थान तो समान है। चिकित्सास्थान को विस्तृत किया गया है। उत्तरस्थान भी कम है। इस प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह का संक्षितरूप ही अष्टाङ्गहृदय है यह वैद्यसमाज में अल्पकाल में ही अत्यधिक लोकप्रिय हो गया।

अष्टाङ्गसंग्रह की विशेषतायें

प्राचीन संहिताओं का अनुसरण करने पर भी इसमें अनेक मौलिक तथ्य है। उन्हीं में से कुछ प्रमुख तथ्यों को यहाँ उल्लिखित किया जा रहा है -

1. धातुओं की वृद्धि के लक्षणों का सामञ्जस्य दोषलक्षणों के साथ किया गया है जैसे रसवृद्धि में श्लेष्मविकार और पित्तविकार आदि।
2. द्रव्यविज्ञान में औषधियों क विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। रसायन होने पर भी गुग्गुलु के अत्यधिक सेवन से क्लैव्य आदि दोष हो जाते हैं।
3. ऋतुसन्धि का कालविभाग में वर्णन किया गया है उसी समय प्राय: रोग उत्पन्न होते हैं। ऋतु के लक्षण को काल, मास और राशि के आधार पर किया है।
4. अष्टाङ्गसंग्रह में अर्ध्वगुद रोग का वर्णन प्राप्त होता है इससे मुख से दुर्गन्ध आती है। दन्तोपाटन का वर्णन भी है।
5. चौदह प्रकार के नेत्ररोग बताए है। कर्णस्राव की लसीका के लगने से पाक हो जाता है।
6. कायचिकित्सा से भिन्न शल्यतन्त्र में भी मौलिक विचारों का वर्णन प्राप्त होता है।
7. रोगों का वर्गीकरण रोगविज्ञान प्रकरण में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

Scanned with CamScanner

6. रसायन प्रकरण में अनेक प्रचलित द्रव्यों वराहीकन्द, गोक्षुर, शुण्ठी आदि द्रव्य वर्णित हैं। वाजीकरण में उच्चटा के प्रयोग को बताया है।
7. चिकित्सा - प्रकरण में अनेक योग है जैसे- अतीसार में दाडिमाष्टक चूर्ण, उदर में अयस्कृति, पाण्डु में मण्डूरवटक आदि।
8. यन्त्रप्रकरण में शल्यनिर्धातिनी नाडी तथा अश्मरीहरण यन्त्र का वर्णन है।

कुछ विद्वान अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय एक ही वाग्भट की रचना स्वीकार करते है उनमें अरुणदत्त एवं इन्दु हैं। इन्दु अष्टाङ्गहृदय को पहले और अष्टाङ्गसंग्रह को बाद की रचना मानते हैं। परन्तु सभी मतों के अनुसार अष्टाङ्गसंग्रह की रचना पहले हुई थी। अष्टाङ्गसंग्रह में भाषा की कठिनता है तथा विषय विस्तृत है जबकि अष्टाङ्गहृदय की भाषा सरल तथा स्पष्ट है।

संग्रह की भाषा कठिन, अनेक छन्दों वाली, ऐतिहासिक भौगिलिक और सामाजिक है। ग्रन्थ की कठिनता विषयों का विस्तार ही है। जबकि अष्टाङ्गहृदय संक्षिप्त, सरल और केवल पद्यमय हैं इसकी सरलता के कारण इसका प्रचार अधिक हो गया और इसको आयुर्वेद की वृहत्संहिताओं (वृहत्त्रयी) में सम्मिलित कर लिया गया।

अष्टाङ्गसंग्रह का अरबी अनुवाद आठवीं शताब्दी में बगदाद में प्राप्त हुआ। वैडूर्यकभाष्य तिब्बती भाषा में प्राप्त होता है। इसका जर्मन अनुवाद भी 1941 में प्रकाशित हुआ। टीकाकार अरूणदत्त, हिमाद्रि, अष्टाङ्गहृदय प्रमुख, चन्द्रनन्दन, इन्दु इत्यादि थे।

3.5 माधव– माधवनिदान

परिचय और काल:-माधव ने अपने जीवन के विषय में कुछ स्पष्टत: नहीं लिखा है। पुष्पिका के आधार माना जाता है कि इनके पिता का नाम चन्द्रकर था।

माधव ने वाग्भट द्वितीय कृत अष्टाङ्गहृदय से अनेक अंशों को उद्धृत किया है वाग्भट का समय 600 ई. है। इनके ग्रन्थ माधवनिदान का अनुवाद अरबी में 800 ई. में हुआ। इन साक्ष्यों के आधार पर तो इनका समय 600 ई. मानना उचित है। सातवीं शताब्दी के आसपास का समय उपयुक्त है।

रचना माधवनिदान

इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'रोगविनिश्चय' है। यह रोगविज्ञान का सबसे

Scanned with CamScanner

प्राचीनतम ग्रन्थ है। इन्होंने इस ग्रन्थ में केवल प्राचीन तथ्यों का संकलन ही नहीं किया अपितु उनका विशदीकरण भी किया है, जो विचार संहिताओं में संकेत रूप में थे उन्हें विस्तृत रूप दिया है और कही अतिविस्तृत विषय को सूक्ष्म कर दिया है। उन सभी का उद्देश्य रोगविनिश्चय के रूप में एक व्यावहारिक ग्रन्थ चिकित्सकों के हाथों में देना था। ग्रन्थकार ने यह बिना किसी शंका के कहा है कि जो वैद्य अल्पबुद्धि वाले हैं जो अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने में असमर्थ रहे हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ रोगों का ज्ञान सरलतापूर्वक कराने में समर्थ होगा। अत: माधव ने 'रोगविनिश्चय' नामक ग्रन्थ को लिखकर रोग-विज्ञान की सभी समस्या को दूर कर दिया है। इसके विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है- **"निदाने माधवः श्रेष्ठः"**

माधवनिदान ग्रन्थ की विशेषताएँ

इस ग्रन्थ में छूटे हुए विषयों पर प्रकाश डाला है, कुछ विषयों का उल्लेख इस प्रकार है।

1. वातव्याधि:-संहिताओं में वातव्याधि पर बड़ा विस्तृत वर्णन है। वातरक्त एवं उरुस्तम्भ का दो स्वतन्त्र अध्यायों में वर्णन है। आमवात का संहिताओं में संकेतमात्र मिलता है। इसका स्वतन्त्र स्वरूप खड़ा करने का श्रेय माधव को ही है।

2. शूल:-संहिताओं में शूल का संक्षेप में वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम माधवनिदान ने इसका विस्तृत और स्वतन्त्र वर्णन किया है। शूल के अतिरिक्त, परिणामशूल, अन्नद्रवशूल का वर्णन भी किया गया है।

3. अम्लपित्त:-संहिताओं में इसका स्वतन्त्र वर्णन प्राप्त नहीं होता है। माधवनिदान ने अम्लपित्त का स्वतन्त्र वर्णन किया है। यह गतिभेद से दो प्रकार का होता है - उर्ध्वग और अधोग। दोषभेद से तीन प्रकार का होता है- वातानुबन्ध, कफानुबन्ध, वातकफानुबन्ध।

4. मेदोरोग:-मेदोरोग का अतिसूक्ष्म संकेत प्राचीन संहिताओं में प्राप्त होता है, परन्तु माधवनिदान में इसका स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। गुप्तकाल में मेदोरोग सबसे अधिक देखा गया था तो माधव ने इसी का अंकन अपनी रचना माधवनिदान में किया।

Scanned with CamScanner

5. श्लीपदः-चरक और सुश्रुत ने इसका वर्णन दूसरे प्रसंगों में किया है। माधवकर ने इसका वर्णन स्वतन्त्र अध्याय में किया है।

6. शीतपित्तोदर्दकोठः-इसका भी स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त विस्फोट, और मसूरिका को भी पृथक अध्यायों में वर्णित किया है।

7. स्त्रीरोगः-माधवकर ने स्त्रीरोगों का वर्णन 6 अध्यायों में किया है जैसे- असृग्दर, सूतिकारोग, स्तनरोग आदि।

शल्यचिकित्सा के अतिरिक्त शल्य, शालाक्य, बालरोग, प्रसूति-स्त्रीरोग विषरोग आदि का भी वर्णन किया गया है। प्रत्येक रोग का निदान होने के कारण यह सभी चिकित्सकों के लिए एक उपादेय और महनीय ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद प्राप्त होता है। इसका इटलियन भाषा का अनुवाद, जो फलोरेन्स में प्रकाशित हुआ। इनकी विजरक्षित कृत मधुकोष; वाचस्पति कृत आतकदर्पण की टीकायें प्रसिद्ध हैं।

3.6 शार्ङ्गधर – शार्ङ्गधरसंहिता

दार्शनिक शार्ङ्गधर, ज्यतिर्विद शार्ङ्गधर, नाटककार शार्ङ्गधर और आयुर्वेदज्ञ शार्ङ्गधर इस प्रकार एक ही नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। ये दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर हैं। यही वैद्य थे। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। शिव की पूजा क विधान कई स्थलों पर होने से यह शैव भक्त प्रतीत होते हैं।

समयः-इनके अपने ग्रन्थ में इनके समय के बारे में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। फिर भी कुछ साक्ष्यों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है। वोपदेव ने 14वीं शती में शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका लिखी है। नाडीविज्ञान, अफीम, रसौषधियों की प्रमुखता का समावेश उस काल के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ की शैली सोढल (12वीं शती) कृत गदनिग्रह पर आधारित है। अतः इनका काल 13 वीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

रचना-शार्ङ्गधरसंहिता और उसकी विषय-वस्तु

शार्ङ्गधरसंहिता में 32 अध्याय और 2600 श्लोक है। ग्रन्थान्त के श्लोकों में संहिता शब्द का प्रयोग हुआ है।

इसमें तीन खण्ड हैं और खण्डों के फिर अध्याय हैं-

Scanned with CamScanner

1. पूर्वखण्ड

इसमें सात अध्याय है सभी अध्यायों के पृथक् पृथक् वर्ण्यविषय हैं–

अध्याय 1 – परिभाषा
अध्याय 2 – भैषजाख्यानक
अध्याय 3 – नाडीपरीक्षादि–विधि
अध्याय 4 – दीपनपाचन
अध्याय 5 – कालादिकाख्यान
अध्याय 6 – आहारादिगति
अध्याय 7 – रोगगणना

2. मध्यमखण्ड

अध्याय 1 – स्वरस
अध्याय 2 – क्वाथ
अध्याय 3 – फाण्ट
अध्याय 4 – हिम
अध्याय 5 – कल्क
अध्याय 6 – चूर्ण
अध्याय 7 – गुटिका
अध्याय 8 – लेह
अध्याय 9 – स्नेह
अध्याय 10 – सन्धान
अध्याय 11 – धातुशोधन
अध्याय 12 – रस

3. उत्तरखण्ड

अध्याय 1 – स्नेहपान
अध्याय 2 – स्वेदविधि
अध्याय 3 – वमन
अध्याय 4 – विरेचन

Scanned with CamScanner

अध्याय 5 - स्नेहवस्ति
अध्याय 6 - निरूहण
अध्याय 7 - उत्तरवस्ति
अध्याय 8 - नस्यविधि
अध्याय 9 - धूमपान
अध्याय 10 - गाण्डूषाधिविधि
अध्याय 11 - लेपादिविधि
अध्याय 12 - शोणितविस्त्रुति
अध्याय 13 - नेत्रकर्म

शार्ङ्गधरसंहिता का महत्त्व और विशेषतायें

यह संहिता मध्यकाल की एकमात्र संहिता है। जो तत्कालीन प्रवृत्तियों एवं विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। उस युग में राजपूतों की छत्रछाया में प्राचीन विज्ञान अपने स्वरूप की रक्षा में तत्पर था। तान्त्रिकों और सिद्धों का सम्प्रदाय भी फल-फूल रहा था। चिकित्सा में सैद्धान्तिक पक्ष दुर्बल हो गया तथा कल्पों की प्रमुखता हो गई। इसीलिए इस संहिता की रूपरेखा प्राचीन संहिताओं के आधार पर न होकर नए क्रम से नियोजित की गई है तथा कल्पानुसार ही चिकित्सा का निरूपण है। इस प्रकार मध्यकालीन प्रवृत्तियों का पूर्ण प्रतिनिधित्व ग्रन्थ होने के कारण इसका महत्व स्वयंसिद्ध है। यह स्वल्प काल में ही अपने महत्त्व के कारण लोकप्रिय हो गई। वोपदेव और हेमाद्रि जैसे विद्वान् इसकी ओर आकृष्ट हुए। दिन-प्रतिदिन यह चिकित्सा समाज के लिए पथ प्रर्दशक बन गया है। अतः मध्यकालीन लघुत्रयी में इसका नाम आदर से लिया जाता है।

इसके वर्ण्य-विषय पर निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य है-

1. ऋतुओं का विभाजन राशिभेद से है जैसे ग्रीष्म मेष-वृष आदि।
2. सर्वप्रथम नाडीपरीक्षा का वर्णन शार्ङ्गधरसंहिता ग्रन्थ में प्राप्त होता है।
3. अहिफेन, आकारकरभ आदि नए द्रव्यों का प्रयोग हुआ।
4. भंगा का औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ।
5. रोगों का वर्गीकरण ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है।

Scanned with CamScanner

6. चिकित्सा में विषों का प्रयोग अत्यधिक बढ़ा था।
7. दीपन-पाचन की स्पष्ट परिभाषाएँ उदाहरण सहित लिखी गई हैं।
8. दोष-धातु मलों का निरूपण और वायु की प्रधनता बतायी गई है।
9. रस, भस्मों और रसौषधियों का वर्णन किया गया है।
10. श्वसनक्रिया द्वारा विष्णुपदामृत (आक्सीजन) शरीर के भीतर जाकर सम्पूर्ण शरीर का पोषण तथा अग्नि को प्रज्वलित करता है इस प्रकार वायु के संयोग से धातुओं का पोषण बताया है। रक्तज रोगों को दोषज रोगों से भिन्न माना है।
11. चिकित्साविधियों में पञ्चकर्म, धारास्वेद, शिरोवस्ति, मूर्धतैल आदि का विशेष वर्णन प्राप्त होता है।
12. कुछ रोगों के लिए विशिष्ट औषधियों तथा औषध योगों का वर्णन किया गया है।
13. वाजीकरण के विविध प्रकारों और प्रयोगों का वर्णन भी प्राप्त होता है।

शार्ङ्गधर ने विशेषत: अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर अपनी संहिता की रचना की है। रसशास्त्रीय सामग्री रसशास्त्र के ग्रन्थों से ली गई है।

लोकप्रिय ग्रन्थ होने के कारण इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गई जिनमें निम्न अत्यधिक प्रसिद्ध हुई हैं-

1. शार्ङ्गधरशारीर टीका
2. दीपिका - आढमल्लकृत
3. गूढार्थदीपिका - काशीरामकृत
4. आयुर्वेददीपिका - रूदभटकृत

इस संहिता की उपादेयता के कारण ही इसका हिन्दी, गुजराती, मराठी, एवं बंगला भाषाओं में अनुवाद हुआ है जो प्राप्त भी होता है।

3.7 भावमिश्र – भावप्रकाश

भावमिश्र आयुर्वेद के इतिहास में मध्यकाल तथा आधुनिक काल में उसी प्रकार स्थित है। जिस प्रकार प्राचीन तथा मध्यकाल की सीमा रेखा पर स्थित है। इन्होंने प्राचीन संहिताओं का अनुसरण करते हुए अपने ग्रन्थ में मौलिक विचारों

Scanned with CamScanner

और नवीन द्रव्यों का समावेश किया है। इनकी रचना भावप्रकाश लघुत्रयी का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण है। यह वैद्य समुदाय का लोकप्रिय ग्रन्थ है।

इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अपना परिचय दिया है। **'इति लटकनतन-श्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे'** से पता चलता है कि उनके पिता लटकन थे। 'मिश्र' उपाधि तथा 'विप्र' आदि शब्दों के प्रयोग से उनका ब्राह्मण होने का पता चलता है।

जन्मस्थान:-अपने जन्मस्थान या निवास स्थान के बारे में कुछ नहीं लिखा है। कुछ विद्वान इन्हें वाराणसी या कान्यकुब्ज का मानते हैं परन्तु इस बात की पुष्टि नहीं होती है। भावप्रकाश के एक पद्य में विष्णुपद का उल्लेख होने से उनका सम्बन्ध विष्णुपदतीर्थ से प्रतीत होता है। विष्णुपद का मन्दिर गया में स्थापित हैं। किसी पकवान विशेष के लिए **'पेरकिया इति लोके'** लिखा है जो मगध में प्रचलित है, परन्तु उत्तरप्रदेश के लिए इस पकवान के लिए 'गुझिया, शब्द का प्रयोग होता है। इससे बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि वे मगध में गया था उसके निकटवर्ती स्थान के निवासी थे।

भावमिश्र के शैव होने का संकेत कई स्थानों पर प्राप्त होता है। प्रारम्भ में गणेश की वन्दना की गई है विष्णु को 'श्रीपति' और 'मधुसूदन' शब्दों से पुकारा गया है। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और हनुमान् का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

काल:-भावमिश्र ने अपने काल के विषय में स्पष्टत: कुछ नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थकारों के आधार पर इनका काल निर्णय करना ही उचित है।

13वीं शती के ग्रन्थ शार्ङ्गधरसंहिता का इन्होंने विशेष रूप से अनुसरण किया है। निघण्टुभाग में मदनपालनिघण्टु का प्रयोग किया है। संभवत: अहिफेन, भंगा, पारसीकयवानी आदि मध्यकाल की औषधियाँ वहीं से ली हैं। मदनपाल निघण्टु की रचना 1347 ई. में पूरी हुई थी। दूसरी ओर 17वीं शती के ग्रन्थ योगरत्नाकर, योगतरंगिणी और लोलिम्बराज का भी भावप्रकाश में उल्लेख प्राप्त होता है।

भावप्रकाश की प्राचीनतम पाण्डुलिपि जम्मू पुस्तकालय में सं. 1722/1665 ई. की है।

Scanned with CamScanner

अतः इन सब तथ्यों के आधार पर भावमिश्र का समय 15वीं और 17वीं शती के बीच में अर्थात् 16वीं शती सिद्ध होता है। व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित और साहित्य में पण्डित जगन्नाथ का जो स्थान है वही भावमिश्र का आयुर्वेद में है।

रचनायें:-इनकी प्रमुख कृति भावप्रकाश ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त एक रचना 'गुणरत्नमाला' का भी नाम दृष्टिगोचर होता है। जिस पर संभवतः भावप्रकाश का निघण्टुभाग आधारित है।

भावप्रकाश:-भावप्रकाश तीन खण्डों में विभक्त ग्रन्थ है-

1. पूर्वखण्ड:- इसके भी दो भाग हैं। **प्रथम भाग** - इसमें आयुर्वेदावतरण से प्रारम्भ करके सृष्टिप्रकरण, गर्भप्रकरण, बालप्रकरण, दिन-ऋतुचर्या प्रकरण तथा मिश्र प्रकरण का वर्णन है

(ख) द्वितीय भाग:- इसमें मान परिभाषा, भैषजविज्ञान, धात्वादि-शोधनमारणविधि और रोगपरीक्षा प्रकरण हैं।

2. मध्यम खण्ड:- इसमें चार भाग हैं

1. प्रथम भाग- ज्वर से संग्रहणी तक का वर्णन है।
2. द्वितीय भाग - अर्श से वातरक्त तक का वर्णन है।
3. तृतीय भाग - शूल से भग्न तक।
4. चतुर्थ भाग- नाडीव्रण से बालरोग तक।

मध्यम खण्ड में 71 अध्यायों में चिकित्सा का वर्णन है।

3. उत्तरखण्ड:- इसमें केवल वाजीकरण और रसायन का वर्णन प्राप्त होता है।

भावमिश्र ने आयुर्वेद के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिये। उन्होंने परम्परागत ज्ञान को और तत्कालीन ज्ञान को अपने चिकित्सीय अनुभवों से परिष्कृत एवं विकसित करने का कार्य किया है।

भावप्रकाश का मौलिक सिद्धान्त

इसमें प्राचीन संहिताओं में वर्णित सिद्धान्तों को विशद रूप दिया गया जैसे-

1. आयुर्वेद की परिभाषा प्राचीन के साथ व्यवहारिक होने से दो प्रकार हो गई है।

Scanned with CamScanner

2. सभी पञ्चमहाभूतों के नाम 'व' अक्षर से दिए गए हैं।

'तन्मात्रेभ्यो वियद्वायुर्वह्निवारिवसुन्धराः'।

3. जिस प्रकार सुश्रुत में प्रकृति-विकृति का पृथक् वर्ग नहीं है अपितु **'अहौ प्रकृतय'** कह दिया है अपितु यहाँ इनका पृथक् पृथक् वर्ग है।
4. आठ मांगलिक द्रव्यों का भी वर्णन हैं।

द्रव्यगुण:-इनके समय तक प्रचलित अनेक देशी-विदेशी द्रव्यों के गुण-धर्म का उल्लेख प्राप्त होता है यहाँ कुछ द्रव्यों का वर्णन विशेष रूप से प्राप्त होता है-

1. कर्पूर दो प्रकार का कहा है पक्व और अपक्व।
2. कस्तूरी तीन प्रकार की वतायी है - कामरूपी (आसामी), नैपाली तथा काश्मीरी। इनमें सर्वोत्तम कामरूप कस्तूरी कही गई है।
3. कुङ्कुम तीन प्रकार की वतायी है- काश्मीरी, बाह्लीक, पारसीक। इनमें सर्वोत्तम काश्मीरी बतायी है।
4. सुलभ और उपयोगी कदली भी माणिक्य और चम्पक आदि भेद बताये हैं। ये सभी हाजीपुर (मुजफ्फरपुर, बिहार) में पाये जाते हैं।
5. अष्टवर्म तथा उसके प्रतिनिधि द्रव्यों का वर्णन है
6. द्रव्यों के परीक्षण की विधि बतलाई है।
7. खनिजों में स्वर्ण को पाँच प्रकार का और रजत को तीन प्रकार का कहा गया है।
8. औषधद्रव्यों की प्राप्ति में कठिनाई को देखते हुए उनके समान गुणधर्म वाले प्रतिनिधि दव्यों का वर्णन प्राप्त होता है।

चिकित्सा:- चिकित्सा के क्षेत्र में भावमिश्र का विशेष योगदान है-

1. फिरंग, मसूरिका (शीतला), सोमरोग, मूत्रातीसार, शय्यामूत्र आदि नये रोगों का वर्णन किया गया है।
2. वाजीकरण प्रकरण में कामेश्वरमोदक, आकारकरभादि चूर्ण, मृतसंजीवनी सुरा, श्रीगोपालतैल आदि का वर्णन है।
3. अनेक गर्भनिरोधक योग दिए गए हैं।
4. अहिफेनासव, कर्परासव आदि नवीन योगो का प्रयोग चिकित्सा में बताया है।

Scanned with CamScanner

भावप्रकाश में रसौषधियों का अत्यधिक प्रयोग प्राप्त होता है। प्रयोग में आने वाली अधिकांश औषधियों के विषय पर इसमें प्रकाश डाला गया है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि औषधियों के प्रयोग का यह इतना प्रसिद्ध ग्रन्थ था कि 40-50 वर्ष पूर्व अधिकांश वैद्य एकमात्र भावमिश्र कृत भावप्रकाश के द्वारा चिकित्सा करके जीवीकोपार्जन करते थे।

भावप्रकाश पर अनेक टीकायें लिखी गई, परन्तु शालिग्राम कृत बम्बई के वेङ्कटेश्वर प्रेस से 'भावप्रकाश' की हिन्दी टीका 1906 में प्रकाशित हुई है। इनके निघण्टु भाग का तो अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इसीलिए भावप्रकाश का अधिक प्रचार हुआ। विशेषकर निघण्टु भाग का।

Scanned with CamScanner

4

आयुर्वेद के आठ अंग या अष्टाङ्ग आयुर्वेद

सभी प्राणियों की सर्वप्रथम कामना सुखमय और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। सभी शास्त्र मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दु:खों से मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, परन्तु उनके नियम के बिना उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य के पालन नहीं किए जा सकते हैं। आयुर्वेद स्वास्थ्य रक्षक और रोग मुक्ति का शास्त्र है। यह सुखमय दीर्घ जीवन प्रदाता शास्त्र है। जीवन रुपी वृक्ष जब पूर्णत: स्वस्थ और रोगमुक्त होता है तभी उसमें उत्तम फूल और फल लगते हैं। अत: यह आवश्यक है कि जीवन को आरोग्यमय, दीर्घायु-सम्पन्न तथा शरीरिक और मानसिक कष्टों से मुक्त रखा जाए। आरोग्यमय, दीर्घायु सम्पन्न जीवन की प्राप्ति के लिए आयुर्वेद को ब्रह्मा ने आठ अंगों में विभक्त कर दिया है-

1. शल्यतन्त्र 2. शालाक्यतन्त्र 3. कायचिकित्सातन्त्र 4. भूतविद्यातन्त्र 5. कौमारभृत्यतन्त्र 6. अगदतन्त्र 7. रसायनतन्त्र 8. वाजीकरणतन्त्र

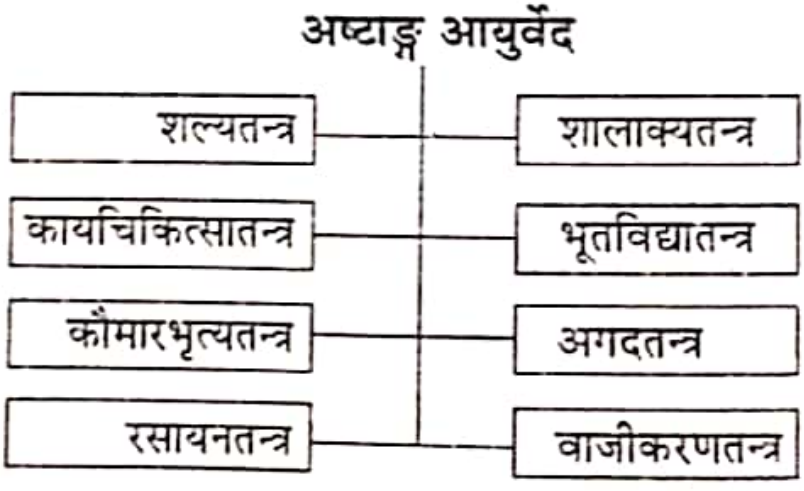

4.1 शल्यतन्त्र (Surgery and Midwifery)

विविध प्रकार के शल्यों को निकालने की विधि एवं अग्नि, क्षार, यन्त्र,

Scanned with CamScanner

शस्त्र, आदि के प्रयोग से सम्पादित चिकित्सा को शल्यचिकित्सा कहते हैं। किसी व्रण में से तृण के हिस्से, लकड़ी के टुकड़े, पत्थर के टुकड़े, धूल, लोहे के खण्ड, हड्डी, बाल, नाखून, शल्य, अशुद्ध, रक्त, पूय मृतभ्रूण आदि को निकालना तथा यन्त्रों एवं शस्त्रों के प्रयोग एवं व्रणों के निदान तथा उसकी चिकित्सा आदि का समावेश शल्यतन्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

"शल्यनाम विविधतृणकाष्टपाषाणपाशुलोहलोष्टस्थिवालनखपूयास्राव दुष्टव्राणांतर्गर्भशल्योद्धरणार्थं यंत्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधान्व्राण। विनिश्चयार्थंच। (सु.सू. 1.1)

शल्यतन्त्र का प्रधानता:-आयुर्वेद के अष्टागों में इसकी प्रधानता के साथ-साथ यह प्रथम स्थान पर गिना जाता है। यज्ञ के कटे हुए सिर को धड़ के साथ जोड़ देने और देवता और दानवों के युद्ध में प्रहार युक्त व्रणों के रोपण करने के कारण शल्य को ही अष्टाङ्ग का प्रथम अंग माना जाता है।

आयुर्वेद के सभी अंग समान रूपेण आवश्यक हैं, परन्तु यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि के द्वारा शल्यक्रिया करने से शीघ्र फलदायी होने के कारण 'शल्य' सभी अंगों में श्रेष्ठता को प्राप्त है। जिस प्रकार विद्रधि एवं अर्श आदि रोगों को औषधियों के सेवन से भी ठीक किया जा सकता है, परन्तु औषधि के सेवन के द्वारा समय अधिक लगता है, जबकि शल्यक्रिया के द्वारा रोग को कम समय में ठीक किया जा सकता है।

सुश्रुत संहिता के टीकाकार डल्हण कहते हैं कि-

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्।
यत्किञ्चदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्।।

(सु.सू. 1/8 पर डल्हण की टीका)

अर्थात् केवल तृण, काष्ठ, धातु आदि ही शल्य नहीं हैं बल्कि 'शरीर में बाधा उत्पन्न करने वाला मल, दोष आदि भी शल्य कहे जाते हैं अत: शल्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर से है। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक शल्य अन्य आयुर्वेद के अंगों की तुलना में अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित है। आधुनिक सर्जरी शल्य का ही रूप है।

शल्य का वैदिक वाङ्मय में स्थान:-ऋग्वेद में भी शल्य के अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं। उस समय के देववैद्य अश्विनीकुमारों के चमत्कारिक कार्यों

Scanned with CamScanner

से तत्कालीन शल्यतन्त्र की विकसित स्थिति का पता चलता है। सन्धाकर्म (Plastic Surgery) और अंगप्रत्यासेपण (Transplantation) का काम अश्विनीकुमारों ने किया था। रवेल राजा की पत्नी विश्पला की टांग युद्ध में काट दिए जाने पर उसे लोहे की जाँघ लगा कर जोड़ दिया गया था। उपनिषदों की मधुविद्या सन्धान कर्म भी जिसे अश्विनीकुमारों ने दधीचि से प्राप्त किया था। 'प्रग्वर्य विद्या' कटे सिर को जोड़ने की विद्या कहलाती थी। इसी विद्या द्वारा अश्विनी कुमारों ने दधीचि ऋषि के सिर को धड़ से अलग करके उसकी जगह घोड़े के सिर को उसके सिर पर लगाया था और पुनः मनुष्य का सिर जोड़ दिया था। यह वेदों में उल्लिखित है। इससे अंग संरक्षण और प्रत्यारोपण का संकेत प्राप्त होता है।

जैमिनीय ब्राह्मण का एक आख्यान प्रसिद्ध है कि किसी कुमार का शरीर रथ चक्र से छिन्न हो गया था, उसको ठीक करके अश्विनी कुमारों ने पुनर्जीवित किया गया।

वाल्मीकिरामायण में (बाल का० 49/6-10) में इन्द्र के अण्डकोष के गिर जाने पर भेड के अण्डकोष के प्रत्यारोपण का आख्यान है। जैमिनीय ब्राह्मण में भी यह आख्यान वर्णित है। महाभारत में भी '**उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणको विदाः**' (भीष्मपर्व 120/55) अर्थात् शल्यनिकालने में दक्ष वैद्यों का निर्देश किया गया है। गुप्तकाल की शल्यविद्या भी उन्नत थी।

शल्यतन्त्र के ग्रन्थः-शल्यतन्त्र का आकार ग्रन्थ 'सुश्रुतसंहिता' है। इसमें व्रणागार व्यवस्था, व्रणों के प्रकार, व्रणों की चिकित्सा के साठ उपक्रम, दग्ध, आठ प्रकार के शस्त्रकर्म, उपयोगी यन्त्रशास्त्र, जलौका, क्षार-कर्म व अग्निकर्म, सिरावेध आदि को विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है। अर्श, अश्मरी (पत्थरी) और भगन्दर आदि में शस्त्र प्राणिधान का विधान वर्णित है। कान, नाक, और ओष्ठ के कटने पर उसके सन्धान की विधि को भी विस्तृत रूप से बताया है। यह सन्धान कर्म सुश्रुत की ही मौलिक देन है। आधुनिक सर्जरी के विकास का आधार भी सुश्रुत संहिता ही है। प्राचीन ग्रन्थों में शल्य में सुश्रुतसंहिता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शल्यतन्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में से अधिकतर आज उपलब्ध नहीं हैं, जिनके उद्धरण हमें दूसरे ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। सुश्रुत को ही आधार बनाकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जो इस प्रकार है।

Scanned with CamScanner

शल्यतन्त्र के वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ

1. शल्यतन्त्रसमुच्चय:-इसे पं० वामदेवमिश्र ने 1929 में स्वयं लिखकर प्रकाशित किया। ये पटना राजकीय आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक थे। इसमें मुख्य रूप से सुश्रुत के विषय संकलित किये गए है। अष्यङ्गसंग्रह के इसमें कुल 50 अध्याय है। चरक, संहिता, सुश्रुत संहिता माधवनिदान, प्रत्यक्षशारीरम और नेत्र शारीरम् आदि ग्रन्थ मिश्र जी को कण्ठस्थ थे।

2. सौश्रुती:- रमानाथ द्विवेदी कृत सौश्रुती अधिक प्रचलित है। इसका प्रकाशन 1968 तृं सं. में चौखम्भा से हुआ।

3. शल्यसमन्वय:-यह दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। यह अनन्तरामशर्मा के द्वारा लिखित है। यह हरिद्वार से 1963-1965 में प्रकाशित हुआ।

4. शल्यप्रदीपिका:-मुकुन्दस्वरूप कृत है और वाराणसी से प्रकाशित है।

इनके अतिरिक्त शल्यचिकित्सा के वरदान, सर्जिकल इथिक्स इन आयुर्वेद शल्यतन्त्र में रोगी परीक्षा, भग्नचिकित्सा, आधुनिक शल्यचिकित्सा के सिद्धान्त, शल्यविज्ञान, क्लीनिकल शल्य विज्ञान आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं।

प्राचीन काल में काशी शल्यतन्त्र का प्रधान केन्द्र रही है। दिवोदास धन्वन्तरि ने यहीं सुश्रुत आदि शिष्यों की शल्य की चिकित्सा दी थी। शल्यतन्त्र की तक्षशिला में भी उत्तम शिक्षण व्यवस्था थी। सम्भवत: राजाओं की सेना में भी शल्यचिकित्सक रहते होंगे। भारतीय शल्य की क्रिया अरब होते हुए भूमध्यसागरवर्ती देशों में पहुँची।

4.2 शालाक्यतन्त्र

(Copthamology Including ENT and Dentistry)

गले के ऊपर के अंगों की चिकित्सा में बहुधा शलाका सदृश यन्त्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होने से इसे शालाक्य कहते हैं। **शलाका पटलवेधनी, तस्या: कर्म शालाक्यं, तत्प्रधानं तन्त्रं शालाक्यतन्त्रम्'**। सु.सू. 1.8। इसके अन्तर्गत प्रधानत: मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण आदि अंगों में उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा आती है।

शालाक्यं नामऊर्ध्वजननन्तुगतानां प्रवण नयन वदन ध्राणादि संश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्। (सु.सू. 1/2)

Scanned with CamScanner

आधुनिक चिकित्सा में शालाक्य में समाविष्ट अंगों में कान, नाक, गला का एक विभाग माना गया है। आँख और दन्त दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र विभाग है।

अश्विनीकुमारों द्वारा किए गए शालाक्यसम्बन्धी अनेक चमत्कार ऋग्वेद में वर्णित हैं। कतिपय द्रष्टव्य है। जैसे-अन्धे ऋध्जाश्व को दृष्टिदान, अन्धे कण्व को दृष्टि दान, बहरे नार्षद को ऋवणशक्ति दान आदि। अश्विनीकुमारों ने युद्ध में आहत सैनिकों को स्वस्थ बनाकर पुनः संग्रामयोग्य बना दिया था। इससे अनुमान होता है कि वैदिक काल में सैन्यचिकित्सा विज्ञान समुन्नत था। अथर्ववेद, कौशिकसूत्र, रामायण, महाभारत आदि में इसकी सामग्री प्रचुरता से देखी जाती हैं। शालाक्यतन्त्र के द्वारा पशुचिकित्सा करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

ग्रन्थः- 'सुश्रुतसंहिता' ही शालाक्यतन्त्र का प्रमुख ग्रंथ है। इसके उत्तरतन्त्र में इसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

नेत्ररोग- अध्याय 1 से 19 तक

कर्णरोग- अध्याय 20 और 21 में

नासिका रोग- अध्याय 22 से 24 तक

शिरोरोग - अध्याय 25 और 26 में

शालाक्य सम्प्रदाय में अनेक आचार्य हुए। जिन्होंने अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परा को चलाया। इन परम्पराओं में सबकी अपनी-अपनी मौलिक विशेषता थी। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में चक्षु सम्बन्धी और कर्ण सम्बन्धी परम्पराओं का वर्णन मिलता है। कौशिकसूत्र (30/ 1-2) में नेत्ररोग के लिए भैषज्य विधान की चर्चा की गई है।

सुश्रुत में नेत्र शारीर का सूक्ष्म अध्ययन करके उसके विभिन्न अवयवों के विकारों और उनके निवारण का उपाय बतलाया गया है। विकारों के उपाय के लिए सेक, विडालक, लेप, नेत्र पूरण, अञ्जन, व्रर्ति आदि का प्रयोग किया जाता था। नेत्र रोगों को रोकने के उपाय भी बताये गए हैं। नाक, कान, काण्ठ मुख आदि के रोगों के निदान और चिकित्सा का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना होता था। नेत्र रोगों के लिए अनेक अञ्जन और वर्तियाँ निकाली गई। काशी यदि शल्य का केन्द्र रहा है तो मिथिला शालाक्य तन्त्र का केन्द्र था।

Scanned with CamScanner

आधुनिक चिकित्सा के प्रवेश के साथ आयुर्वेद के महाविद्यालयों मे 'शालाक्य' के विशेष अध्ययन के साथ नेत्र आदि चिकित्सा एवं शस्त्रकर्म करने की ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। पटना आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक पं. वामदेव मिश्र और उनके शिष्यों ने नेत्ररोगों की आयुर्वेदीय औषधियों द्वारा निदान किया और उसमें वे सफल भी हुए।

यदि औषधियों का सही ढंग से निर्माण हो और विभिन्न नेत्ररोगों पर उनका प्रयोग हो तो आयुर्वेदीय नेत्रचिकित्सा गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सकती है। मोतियाविन्द से बचने के लिए बहुत से अञ्जन है। यदि उनका नित्य प्रयोग किया जाए, मोतियाविन्द में लाभदायक होता है। यथा- मुक्ताञ्जनु, तुजिनाञ्जन आदि।

ग्रन्थ:-शालाक्यतन्त्र में विदेहतन्त्र. निमितन्त्र, शौनकतन्त्र, करालतन्त्र, सात्यकितन्त्र, कांकायनतन्त्र आदि ऐसे ग्रन्थ है। जिनके यत्र-तत्र उद्धरण ही प्राप्त होते हैं। आधुनिक काल में उपलब्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं- शालाक्यतन्त्र, शालाक्यविज्ञान, नेत्ररोगविज्ञान, नेत्रचिकित्सा, नेत्रचिकित्सा विज्ञान, नेत्र विज्ञान, शालाक्य शास्त्र आदि। इनमें से शालाक्यतन्त्र पाठ्य ग्रन्थ है।

4.3 कायचिकित्सातन्त्र (General Medicine)

कायचिकित्सा को आयुर्वेद के सभी अंगों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक जो सम्मान और प्रतिष्ठा आयुर्वेदीय 'कायचिकित्सा' से प्राप्त हुई है, वह अन्य किसी अङ्ग से नहीं प्राप्त हो सकी है।

'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन वाङमय है, उसमें भी अश्विनीकुमारों की चिकित्सा के अनेक चमत्कारपूर्ण उदाहरण दृष्टव्य है। च्यवन और वन्दन ऋषि जो जीर्ण शीर्ण थे। उनकी अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा की और यौवन प्रदान किया। कक्षीवती की पुत्री 'घोषा' को कुष्टरोग से मुक्ति दिलाई। सूर्यरश्मि द्वारा हृदय रोग की चिकित्सा का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता हैं। 'अपाला' का चर्मरोग तथा उसके पिता का गंजेपन को भी अश्विनीकुमारों ने दूर किया। कुष्ठरोग से कृष्ण वर्ण शरीर वाले 'श्याव' का कुष्ठ दूर किया।

यजुर्वेद में भी अनेक रोगों का वर्णन प्राप्त होता है। यथा- अर्शरोग, श्लीपद, कुष्ठ, चर्मरोग, यक्ष्मा, विशूचिका, श्वयथु (शोथ), श्लेष्मा और मुखपाक आदि। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। ऋग्वेद में जो तथ्य सूत्ररूप में

Scanned with CamScanner

संकेतित हुए हैं उनका अथर्ववेद में विशद् वर्णन किया गया है। इसमें अनेक रोगों के वर्णन के साथ-साथ उनके निदान को भी बताया गया है।

वैदिककालीन चिकित्सा से पूर्व दैवव्यापाश्रय चिकित्सा की प्रधानता थी। रोग देवता, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के प्रकोप के कारण माने जाते थे। उनको प्रसन्न करने के लिए बलि, उपहार, होम, जप पूजा आदि की जाती थी। वन-जातियों में आजकल भी ज्वर आदि रोगों को भूतजनित माना जाता है और उसकी चिकित्सा बलि चढ़ाकर, झाड़फूँक और हवन करके की जाती है। अभिमन्त्रित जल के सेवन से, मन्त्रों के प्रयोग से और धूपन आदि ग्रामीण लोगों में चिकित्सा की पद्धति आज भी देखने को मिलती है। आयुर्वेद के 'दैवव्यापाश्रय चिकित्सा' में इसका समावेश है। रोगी के भय को दूर करके उसमें आत्मविश्वास की उत्पत्ति के लिए, उसके मनोबल में वृद्धि के लिए इन उपचारों को किया जाता था। रोगी के मन को अहितकर विषयों से रोकने को 'सत्त्वावजय चिकित्सा' कहा गया है।

'युक्तिव्यापाश्रय' चिकित्सा की तीसरी प्रक्रिया को आयुर्वेदीय संहिताओं के निर्माण काल में अपनाया गया। इसमें रोगी की प्रकृति, दोषावस्था, देश काल, बल, शरीर-सात्म्य (हितकर) मन की स्थिति आदि पर विचार किया जाता था। रोगी की अलग-अलग स्थिति के अनुसार औषधि का प्रबन्ध किया जाने लगा।

वात-पित-कफ इन तीनों दोषों का विस्तृत वर्णन है और इसके 63 भेद बताये हैं। चरक ने कहा है-

"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता"

अर्थात् दोष वैषम्य रोग और दोष साम्य आरोग्य हैं। शरीर को इस प्रकार परिभाषित किया है-

"दोषधातुमलं मूलं हि शरीरम्"

(दोष धातु-मल का संगठन शरीर है)

स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को यथावत् बनाए रखने के लिए आयुर्वेद में कुछ बातों को आवश्यक बताया है। जैसे दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियम सदाचार, आहार-विहार आदि। इनके नियमों का सावधानी से पालन करने को बताया है। अतः चरकसूत्र में कहा है-

Scanned with CamScanner

'नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्'। (च.सू. 5/103)

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार राजा अपनी अन्तः ब्राह्य स्थितियों को संभाल कर राज्य का पालन सावधानी से करता है उसी प्रकार अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये।

कायचिकित्सा की परिभाषाः- इसमें सामान्यरूप से औषधि प्रयोग से चिकित्सा की जाती है। प्रधानतः ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा इसके अन्तर्गत आती है। सुश्रुत ने इसकी परिभाषा सुश्रुत संहिता के 1.3 में इस प्रकार की है-

'कायचिकित्सा नाम सर्वांगसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्त-शोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादिनामुपशमनार्थम्।'

काय-चिकित्सा की शब्दिक व्युत्पत्तिः-'कायः सकलं शरीरं तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा'। काय का अर्थ हैं - सम्पूर्ण शरीर, अतः सम्पूर्ण शरीर के रोगों की चिकित्सा 'कायचिकित्सा' है।

काय + चिकित्सा इन दो शब्दों के योग से 'कायचिकित्सा शब्द बना है। अतः काय और चिकित्सा इन दो शब्दों के अलग-अलग अर्थ को जानकर ही हम काय चिकित्सा के यथार्थ अर्थ को जान सकते हैं। काय के अनेक अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं-

काय शब्द का अर्थः- 'कायति शब्दायते इति कायः' जो शब्द करे उसे काय कहते हैं। कान को अंगुली से बन्द करने पर एक ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि शरीर के जीवित होने का चिह्न है। हृदय की गति का नियमन करना ही कायचिकित्सा है। किसी भी रोग के हो जाने पर हृदय की गति को यथावत् संचलित करना परम आवश्यक है।

काय का दूसरा अर्थ शरीर या देह है। **चीयतेऽन्नादिर्भिः इति कायः** 'जिसका अन्नादि आहार से पोषण हो, उसे काय कहते हैं। इस प्रकार के शरीर की चिकित्सा काय है।

काय का तीसरा अर्थ जठराग्नि है। जीवित प्राणियों की जठराग्नि को काय कहते है यह मधुकोष टीका में उद्धृत भोज का वचन है। शरीर में 13 प्रकार की

Scanned with CamScanner

अग्नियाँ होती है - एक जठराग्नि, सात धात्वाग्नि और पञ्च महाभूताग्नि। इन सबमें जठराग्नि प्रमुख है। अतः जठराग्नि के विकृत को जाने पर उसको प्राकृतिक स्थिति में लाने के लिए किए गए उपचारों को 'कायचिकित्सा' कहा जाता है और जो वैद्य इसका उपचार करता है, उसे 'कायचिकित्सक' कहते हैं-

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभि धीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः।।

जिस मनुष्य की जठराग्नि ठीक रहती है। उसको कोई रोग नहीं होता और वह दीर्घायु को प्राप्त करता है। इस जठराग्नि की प्रतिष्ठा के कारण ही उसकी चिकित्सा के अंग कायचिकित्सा का आठों अंगों में प्रधान स्थान प्राप्त है।

चिकित्साः- चिकित्सा शब्द 'कित् रोगापनयने' धातु से बना है। अपनयन का अर्थ होता है दूर करना। रोग के अपनयन को चिकित्सा कहते हैं। वैद्यकशब्दसिन्धु में कहा है-

'या क्रिया व्याधिहरणी या चिकित्सा निगद्यते'

(जो क्रिया व्याधि को दूर करने के लिए की जाती है, वह चिकित्सा है)

चिकित्सा की परिभाषाः-ये चारों वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी अपने उत्तम गुणों से युक्त होकर, धातु विषमता होने पर, धातु विषमता को दूर करने और धातु समानता की स्थिति लाने के लिए प्रवृत्त होते हैं वह प्रवृत्ति ही चिकित्सा कहलाती है-

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातु वैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते।।

च०सू० 9.15

चिकित्सा के सिद्धान्त

1. जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उन कारणों का त्याग करना चाहिए।
2. बढ़े हुए दोषों को घटाना चाहिए, क्षीण हुए दोषों को बढ़ाना चाहिए और समान दोषों को समान बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए।
3. शीत से होने वाले रोगों में उष्णोपचार और उष्णता से होने वाले रोगों में शीतोपचार करना चाहिए।

Scanned with CamScanner

4. रोग के अनुसार जहाँ उपयुक्त हो वहाँ संशोधन, संशमन विधिपूर्वक करना चाहिए।
5. मानसिक रोगों में ज्ञान, विज्ञान, धैर्यस्मृति एंव चित्त की एकाग्रता आदि की प्रक्रिया अपना कर चिकित्सा करनी चाहिए।

कायचिकित्सा के संहिता-ग्रन्थः-कायचिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता हैं। इसके अतिरिक्त भेलसंहिता, जतूकर्णसंहिता, क्षारपाणिसंहिता, हारीत-संहिता आदि ग्रन्थ हैं। इनमें चरक संहिता ही अपने पूर्ण रूप में प्राप्त होता है।

4.4 भूतविद्यातन्त्र (Psycho-theraphy)

आयुर्वेद में इस अंग को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। इसी कारण इसका कोई स्वतन्त्र प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता हैं।

परिभाषाः- इसमें देवता, पिशाच, पितृ तथा ग्रहों द्वारा उत्पन्न हुए विकारों और उसकी चिकित्सा का वर्णन है। रोगों को दूर करने के लिए बलिकर्म, उपहारकर्म और पूजाकर्म के द्वारा रोग शान्ति की चिकित्सा 'भूतविद्या' या भूतचिकित्सा कही जाती है।

भूतविद्यानाम् देवासुरगंधर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचानागग्रहद्युपसृष्ट- चेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।। (सु.सू. 1/4)

सुश्रुत के अनुसार भूतोन्माद, अमानुषोपसर्ग तथा बालग्रहों का आयुर्वेद में विशद् वर्णन है। ये सभी रोग तथा मानसरोग आदि भूतविद्या के अन्तर्गत हैं-

उन्मादः प्रतिपेधश्च तथाऽपस्मारिको गदः।
अमानुषनिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते।।

अथर्ववेद भूतविद्या से सम्बन्धित विषय भरपूर है ऋषि, देवता, गुरु, भूतप्रेत, पिशाच, राक्षस, रेवती आदि ग्रहों को तिरस्कृत करने पर उन्माद, अपस्मार आदि मानसरोग और अनेक शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इन रोगों की मुक्ति के लिए देवता, राक्षस या ग्रह आदि के अनुरूप बलि पूजा, होम एवं जाप आदि करने का विधान है।

भूतविद्या के विषय संहिताग्रन्थों में बीजरूप में प्राप्त होते हैं। यथा- सुश्रुतसंहिता में उत्तरतन्त्र अमानुषप्रतिषेधाध्याय, चरक संहिता में उन्माद चिकित्सा और वाग्भट में भूतविज्ञानीय एवं भूतप्रतिषेधाध्याय।

Scanned with CamScanner

वैदिक काल से लेकर आज तक भूतविद्या का इतिहास प्राप्त होता है। अधिकांशत: ग्रामीण एवं वनेचर लोग भूत-प्रेत के आक्रमण से त्रस्त देखे जाते हैं, पुरोहित, ओझा, क्षोखा लोगों द्वारा उनकी चिकित्सा कर दी जाती है और वे स्वस्थ हो जाते हैं।

भूतविद्या की विशेषता

यह एक रहस्यात्मक विद्या है, सारे विश्व में इसकी सत्यता के उदाहरण देखे जा सकते हैं। आयुर्वेद सभी प्रकार के ज्ञान का भंडार है। आर्त्तजन की पीडा को दूर करना इसका प्रधान लक्ष्य है। वैसे तो सभी रोगों का मूल कारण वात-पित्त-कफ होते हैं, लेकिन भूतविद्या सम्बन्धी रोगों में प्रमुख कारण अदृष्ट होते हैं।

'काश्यपसंहिता' के रेवतीकल्प' में भूतविद्या का प्रसंग विस्तारपूर्वक वर्णित है। मनुष्य जब अपने उदात्त कर्त्तव्यों से विमुख होकर अनाचार और दुराचार के मार्ग पर चलता है, तब उसको ग्रह पकड़ते हैं और उसकी धर्म के मार्ग पर चलना मजबूरी हो जाती है। उसे जीवन धारण करने की क्षमता धर्म ही देता है। अपने अध्यात्मज्ञान से आयुर्वेद के त्रिकालदर्शी महर्षियों ने यह जान लिया कि जब मनुष्य का मन सत्त्वगुण को त्यागकर रज और तमों गुणों में लिप्त होता है तब वह धर्म के मार्ग को छोड़ देता है। वह अधर्म के मार्ग पर चलता हैं अधर्म का आचरण करने से प्रकृति में विपरीत स्थिति आ जाती है, ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। वायु, जल, देश, और काल अपने स्वाभाविक गुण का त्याग कर देते हैं। परिणामस्वरूप खेती में भी समुचित गुणों का आधान नहीं हो पाता। मानव को न तो पोषक तत्त्व, न शुद्ध वायु या जल ही मिल पाते हैं।

जीवन में जब अन्न धन आदि की कमी होती है तो सम्पन्न लोग संचय करने लगते है। अभावग्रस्त लोगों के मन में उस संचित अन्न धनादि के प्रति ईर्ष्या, द्वेष उत्पन्न होने लगता है और वे घुटन का जीवन जीने लगते हैं। काम, क्रोध, असूया, और मत्सर' के कारण विवेक क्षमता नष्ट हो जाती है। मानव मोह, मद, प्रज्ञापराध और मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त होकर मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता हैं। वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान से रहित होकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। जब मानव का मनोबल हीन हो जाता है तो वह अपनी मन:स्थिति को नहीं संभाल पाता तो वह विवेकहीन क्रियायें करना प्रारम्भ कर देता है। वह उन्मत्त होकर इधर-उधर घूमने लगता है यही उन्माद भूतविद्या का एक प्रकट उग्र स्वरूप है। इसी प्रकार रजतो और तमोगुणों की अधिकता के कारण मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

Scanned with CamScanner

आयुर्वेदाचार्यों ने 'भूतविद्या' को मानस विकार माना है। आयुर्वेद में भूतविद्या में जहाँ देवता पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि से आक्रान्त व्यक्ति को मुक्त करने लिए शान्तिकर्म और होमादि का नियम है वहीं मन को स्थिर, शान्त, निर्भय और निर्विकार बनाने के लिए ज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि, पवित्रता, संतोष और ईश्वर की आराधना बताई गई है। जब मन सात्त्विक अभिलाषाओं की भूमि बन जाता है तब उसमें सद्विचारों के सुन्दर फूल खिलते हैं।

भूतविद्या का प्रधान विषय है- मन की स्थिति का पूर्ण अध्ययन करके मन के विकारो को दूर करने का मार्ग बताकर मन से आतंक का हटना।

ग्रन्थः-भूतविद्या का कुछ ग्रन्थों में संकेत प्राप्त होता है जैसे चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, माधवनिदान, मानसरोग विज्ञान आदि।

4.5 कौमारभृत्यतन्त्र (Pediatrics)

इसको बाल चिकित्सा भी कहते हैं। इसका अर्थ है- बालकों का भरण-पोषण और उनके रोगों की चिकित्सा। इसे Science of Pacdiatrics कहते हैं। 'काश्यपसंहिता' में आयुर्वेद के आठ अंगों में इसे श्रेष्ठ माना गया है। वस्तुतः शिशु ही सम्पूर्ण विश्व का आधार है। अतः उसका महत्त्व उचित ही है। इसमें बच्चों, स्त्रियों विशेषतः गर्भिणी स्त्रियों और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस अंग में हैं।

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्।। सु.सू. 1/5

बालक आयु के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं-

1. क्षीरप (दूध पीने वाले)
2. क्षीरान्नाद (दूध और अन्न खाने वाले)
3. अन्नाद (केवल अन्न पर निर्भर रहने वाले)

बालक के जन्म लेते ही विभिन्न प्रकार के संस्कारों का विधान है। उनकी रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है। बालरोगों के प्रकरण में भिन्न-भिन्न ग्रहों का विस्तृत वर्णन है। इन ग्रहों के वर्णन के साथ इनके उपचार का भी वर्णन है।

चरकसंहिता में गर्भिणी स्त्री के साथ-साथ शिशु के पश्चात् उत्पन्न विकारों

Scanned with CamScanner

की व्यवस्था के बारे में विशद विवेचन है। बालक के जन्म काल में और बाद में क्या-क्या करना चाहिए। रोगों से बालक की रक्षा करने के लिए वर्णन है।

ग्रन्थः- चरक संहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, बालचिकित्सामृत, कुमारतन्त्र और कौमारभृत्य आदि। परन्तु '**काश्यपसंहिता**' कौमारभृत्यतन्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें ऐसे विषय भी प्राप्त होते हैं जो अन्य संहिताओं में नहीं प्राप्त होते हैं।

इसका वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार से कह सकते हैं-

दन्तजन्माध्याय- दाँतों के बारे में

स्वेदाध्याय- स्वेदन के बारे में

लक्षणाध्याय- सामुद्रिक लक्षणों के बारे में

वेदनाध्याय- वाणी के बारे में

रेवतीकल्पाध्याय- जातहारिणी ग्रह का वर्णन।

इसमें आचार एवं अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाले को जातहारिणी ग्रह ग्रहण कर लेता है। इसलिए इसमें समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने कर्त्तव्य का निष्ठा और ईमानदारी से पालन करने की बात कही है। अन्नप्राशन में छठे मास में फलों का रस और बारहवें मास में अन्न देने की बात को बताया है। बालकों का वस्तिकर्म करते समय सावधानी की बात कही है, अत्यधिक छोटे बालकों को तीक्ष्ण औषधि नहीं देनी चाहिए।

4.6 अगदतन्त्र (Toxicology)

अगदतन्त्र को अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न संज्ञा दी गई है यथा-चरक ने विषगरवैरोधिकप्रशमन, अष्टाङ्गहृदय और अष्टाङ्गसंग्रह में 'दंष्ट्राचिकित्सा' आदि।

'अगदतन्त्रं नाम-सर्पकीटलूतमूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविध-विषसंयोगोपशमनार्थं च'। सु०सू० 1.6

सर्प, कीट, लूता आदि से डँसे हुए, विभिन्न प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रस्त मानवों की चिकित्सा करने वाला अंग को अगदतन्त्र या विषतन्त्र कहते हैं।

अथर्ववेद में मन्त्र चिकित्सा द्वारा नस-नाडियों में पहुँचे हुए विषय को दूर

Scanned with CamScanner

करने का वर्णन मिलता है। इसमें विषनाशक औषधियों के भी उद्धरण प्राप्त होते हैं।

सुश्रुत के 'कल्पस्थान (अध्याय-1) में 'अन्नरक्षा' का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्राचीन काल से ही राजाओं और सम्पन्न व्यक्ति का जीवन बहुमूल्य होता है शत्रु और दुष्टजन विष का प्रयोग कर उनकी हत्या करने की युक्ति बनाते रहते हैं। इसलिए राजा अपने पास अतिविश्वसनीय, कुलीन और धार्मिक वैद्य को रखता था। जल, वायु आदि को भी विष से दूषित करके शत्रु को नुकसान पहुँचाया जाता था। इनकी शुद्धता के लिए 'अगद' विषहर औषधि का धूपन करने का विधान था।

'सुश्रुत' में हत्या के लिए विषकन्या का प्रयोग भी मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुन्दरी कन्या के अधरों, स्तनों आदि पर विष का लेप कर देते थे और शत्रु के पास भेजा जाता था।

सुश्रुत ने स्थावर एवं जंगम विषों का विस्तृत वर्णन है। अष्यङ्गहृदय का कथन है कि विष तीन प्रकार के होते हैं। फल-फूल आदि कन्दों में होने वाला विष स्थावर विष है। दूसरा कालकूट, हलाहल आदि। सर्प, बिच्छू मकड़ी आदि की दाढ़ों में रहने वाला विषय जङ्गम विष है। अष्यङ्ग में कहा है कि विषों में और विष की सभी अवस्थाओं में घी (गाय का घी) के समान लाभकारी कोई औषधि नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि विष का प्रभाव होने पर अधिक से अधिक गाय का घी उस रोगी को पिलाया जाय। घी विष के प्रभाव को शान्त कर देता है।

आयुर्वेद का यह अंग अत्यधिक विशद् है। इस पर अध्ययन और अनुसंधान हुए हैं, जहाँ प्राणिजगत् है वहाँ विषचिकित्सकों की आवश्यकता और महत्त्व बना हुआ है। अचानक अग्निदाह, विष खा लेने, फांसी लगा लेने, जल में डूबने, गला दवाने आदि की समीक्षा न्यायिक रूप से की जाती है यह न्यायवैद्यक या व्यवहारायुर्वेद नामक एक उपाङ्ग अगदतन्त्र में जुड़ गया हैं। अल्पमृतक की परीक्षा की जाती है। कानून के विभिन्न पहलुओं से उसकी जाँच की जाती है।

ग्रन्थ:- काश्यपसंहिता, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अगदतन्त्र, विषचिकित्सा, विष-विज्ञान और व्यवहारायुर्वेद एवं विष विज्ञान आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन प्राप्त होता है।

Scanned with CamScanner

4.7 रसायनतन्त्र (Rejenation and Geriatrics)

रसायन रस और अयन शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है रस-रक्तादि धातुओं से पोषण के साधन। इसे रसायन या जराचिकित्सा भी कहा जाता है।

चिरकाल तक वृद्धावस्था के लक्षणों से बचाते हुए उत्तम स्वास्थ्य, बल, पौरुष एवं दीर्घायु एवं वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न हुए विकारों को दूर करने के उपाय इस तन्त्र में वर्णित हैं-

रसायनतंत्र नाम वयः स्थापनमायुमेधाबलकरं रोगापहरण समर्थं च।

सु.सू. 1/7

अष्टाङ्गहृदय में रसायन और इसके गुण इस प्रकार बताये हैं – रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, स्मृति, मेघा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, स्वर की निर्मलता, शरीर इन्द्रिय में बल, वाक-सिद्धि, वीर्य की अधिकता और कान्ति प्राप्त करता है। जिससे श्रेष्ठ रस-रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है। रसायन औषधों का केवल स्वास्थ्यवर्धन में प्रयोग नहीं होता परन्तु इसके द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। इसका प्रयोग करने से क्षमता (Immunity) या रोगप्रतिरोधकता (Resistance) बढ़ती है। रसायन के प्रयोग द्वारा च्यवन ऋषि पुनः युवावस्था को प्राप्त हुए-

"अस्य प्रयोगाच्चयवन सुवृद्धोऽभूतपुनर्युवा" रसायन वह है जो वृद्धावस्था को दूर कर युवावस्था लाए और रोगों का दूर करे – **'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्'** सत्यभाषण, अक्रोध, आत्मचिन्तन, शान्तचित्तता और सत्कर्म ये गुण स्वयं में रसायन हैं ऐसा अष्टाङ्गहृदय में कहा है मेघा वृद्धि के लिए ये चार रसायन बताए हैं-

1. भूख के अनुसार मण्डूकपर्णी का रस पियें।
2. मुलहठी के चूर्ण को दूध से पिएं।
3. गिलोय का रस पिये।
4. मूल और फूल के साथ शंखपुष्पी का रस पिये।

रसायन के प्रयोगों में च्यवनप्राश अत्यधिक प्रसिद्ध है। रसायन के प्रभाव निम्नवत् हैं-

1. पोषक तत्त्व के रूप में – (Nutrition) जैसे खजूर, शतावरी और घी-दूध।

Scanned with CamScanner

2. अग्निवर्धक- (Digestion and Metabalism) पिप्पली आदि
3. स्रोतोशोधक रसायन - (Micro-circulation) जैसे -कस्तूरी रसोन और गुग्गुल आदि।

रसायन के लक्षण के अनुसार आधुनिक दृष्टि से तीन पक्षों का समावेश होता है-

1. रक्तादिधातुगतपरिवर्तन- धातुवृद्धिजनक
2. व्याधिक्षमत्वगतपरिवर्तन - व्याधि प्रतिषेधक या व्याधिनिवारक
3. अन्तः स्राव (हार्मोन) गतपरिवर्तन - शक्तिदायक

ग्रन्थः-सभी संहिताओं में रसायन का प्रकरण मिलता है। चरक और सुश्रुत ने दिव्य औषधियों का इस कार्य में प्रयोग किया हैं। ऋग्वेद में जो सोम का वर्णन है। वही आगे चलकर रसायन का प्रतीक बन गया। अथर्ववेद में सूर्यकिरणों को आयुदाता और रसायन औषधि कहा गया है। जल को भी रसायन, अमृत, भेषज् कहा गया है। जीवन्ती औषधि रसायन है यह जीवनी शक्ति देने वाली और जीवन रक्षक है। भावप्रकाश में भी इसे रसायन, त्रिदोषनाशक, शक्तिवर्धक और नेत्रों के लिए हितकारी कहा गया है। अष्टाङ्गहृदय में शिलाजतु (शिलाजीत) को सभी रोगों की चिकित्सा बताया है।

रसायनतन्त्र के उपलब्ध ग्रन्थ है- चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, रसायन खण्ड, रसायनतन्त्र, रसायन दर्शन आदि।

4.8 वाजीकरणतन्त्र
(Virlification, Science of Aphradisiac and Sexology)

इसे वृषचिकित्सा भी कहते हैं। शुक्ररहित को शुक्रयुक्त बनाने की विधि को वाजीकरण कहते हैं। इस चिकित्सा के द्वारा वीर्यहीन को भी वीर्यवान बनाया जाता है।

वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य अतः जिसके पास शुक्र है वह वाजी है - **'वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी'** और जिसके पास शुक्र नहीं है वह अवाजी है जिस क्रिया से अवाजी को वाजी बनाया जाता है उसे वाजीकरण कहते हैं - **"अवाजी वाजी क्रियते अनेन इति वाजीकरण।"**

शुक्रधातु की उत्पत्ति, पुष्टता एवं उसमें उत्पन्न दोषों एवं उसके क्षय, वृद्धि

Scanned with CamScanner

आदि कारणों से उत्पन्न लक्षणों की चिकित्सा आदि विषयों के साथ उत्तम स्वस्थ सन्तानोत्पत्ति संबन्धी ज्ञान का वर्णन इसके अन्तर्गत आते हैं-

वाजीकरणतंत्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचय-जननिमित्तं प्रहर्षं जननार्थं च (सु.सू. 1/8)

अष्यङ्गहृदय का कथन है कि ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम रसायन और वाजीकरण औषधि है। चरक का भी कथन है कि **"ब्रह्मचर्यम् आयुष्कराणां श्रेष्ठतमम्"** ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम जीवनी शक्ति है। अथर्ववेद में वृषा औषधि को वाजीकरण बताया है। वैद्यक शब्दसिन्धु में कपिकच्छु (केवांच, कौंच, कवाछु) को वृषा कहा है। भावप्रकाश निघण्टु में केवांच के बीजों की खीर बनाकर खाने से शुक्रक्षीणता रोग नष्ट होने का वर्णन है। अथर्ववेद में अर्क (आक, मदार) को वाजीकरण बताया है।

ग्रन्थः- वाजीकरण के अनेक प्रसंग वेदों में प्राप्त होते हैं। परवर्ती ग्रन्थों में औपनैषदिक (रहस्यात्मक) प्रकरण के अन्तर्गत वाजीकरण के योग दिये हैं। यौन जीवन को प्रशस्त बनाना तथा स्वस्थ-प्रशस्त सन्तति का उत्पादन वाजीकरण का उद्देश्य है। कुचमारतन्त्र, अनंगरंग, कामसूत्र और पञ्चसायक आदि इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थ है। चरकसंहिता, सुश्रुत संहिता और अष्यङ्गहृदय आदि भी इसके सन्दर्भ ग्रन्थों में आते हैं।

इस प्रकार संक्षेप और सरल रूप में अष्यङ्ग को समझाने का प्रयास किया गया है।

Scanned with CamScanner

5
आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त

आयुर्वेद भारतीय समाज का प्राचीनतम स्वास्थ्य चिंतन परक ज्ञान है। यह सर्वविदित है कि आयुर्वेद का उद्भव वेदों से हुआ है। जिसका अथर्ववेद में विशेष वर्णन है। वेद का अर्थ है ज्ञान, अतः आयुर्वेद का अर्थ हुआ आयु का ज्ञान। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहा जाता है। आत्मा इन्द्रियों और मन के साथ शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। जब तक आत्मा या प्राण शरीर में है, तब तक शरीर जीवित और क्रियाशील रहता है। जिस प्रकार अवयव-अवयवी पदार्थ, उत्पत्ति के समय से ही अपृथक् रहते हैं। नष्ट होने के पश्चात् ही उनका पृथक्त्व सिद्ध है। जिसके अभाव में अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, चाहे वह अवयवी हो या शरीर। उसी प्रकार **"सिद्धान्तो नाम सः यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः"** अर्थात् जो परीक्षकों के द्वारा अनेक बार परीक्ष्य विषयों की परीक्षा करके और हेतुओं के द्वारा उन परीक्ष्य विषयों को सिद्ध करके, जो स्थायी निर्णय दिया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते है। अतः इस प्रकार जो मूल या प्राण या आत्मा को लक्ष्य करके सिद्धान्त बनाये जाते है, उन्हें मौलिक सिद्धान्त कहा जाता है।

इसी कारण आयुर्वेद के सिद्धान्त सदैव अपरिवर्तशील और स्थिर हैं। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

5.1 त्रिगुण

आयुर्वेद में त्रिगुण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये त्रिगुण प्रकृति में विद्यमान रहते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सत्त्व, रजस् और तमस् त्रिगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यह सांख्य दर्शन में सिद्ध है। चरक प्रकृति शब्द का अर्थ साम्यावस्था करते है। पुनरपि आयुर्वेद में शरीर प्रकृति का सम्बन्ध दोषों से माना गया है और रज आदि से मानस प्रकृति

Scanned with CamScanner

का सम्बन्ध माना गया है। ये दोनों ही आयुर्वेद के आधार स्तम्भ माने जाते हैं, क्योंकि शरीर और मन दोनों की चिकित्सा आयुर्वेद का लक्ष्य है।

गर्भाधान के समय माँ के गर्भाशय में वीर्य और रजस् गुण का संयोग होने वात दोष, पित दोष या कफ, इनमें से जिसकी अधिकता रहती है, उसी के अनुसार मनुष्य की प्रकृति का निर्माण माना गया है। यहाँ त्रिगुण का अर्थ धर्म नहीं है, अपितु सत्त्वादि द्रव्य पदार्थ हैं, क्योंकि ये पदार्थ संयोग और वियोग से युक्त होते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् ये द्रव्य पदार्थ प्रकृति के उपादान तत्व हैं।

गुणों में दो परिणामों को देखा जाता है - प्रलय के समय प्रत्येक गुण एक दूसरे से पृथक् होकर स्वयं को स्वयं में बदल लेता है। इस अवस्था में ये गुण कोई कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पृथक् होने से इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। सृष्टि से पूर्व त्रिगुण साम्य अवस्था में विद्यमान रहते हैं, दूसरे प्रकार का परिणाम यह है कि किसी गुण की अधिकता के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। संसार की सभी वस्तुऐं त्रिगुणात्मक होती है। ये त्रिगुण समस्त विश्व के सभी कामों के उत्पत्ति कर्त्ता है। इनके संयोग विना कोई कार्य सम्भव नहीं है। आयुर्वेद में रजस् और तमस् गुण को मानस दोष का कारण माना गया है, क्योंकि प्राणियों में मानसिक दोषों की उत्पत्ति इन्हीं दोषों से होती है। चक्रपाणि के अनुसार वायु, पित्त तथा कफ शारीरिक दोष के कारण होते हैं और मानस दोष रजस् और तमस् के कारणभूत होते हैं, इनमें सत्त्व गुण सर्वथा शुद्ध एवं विकार से रहित माना गया है।

रजस् और तमस् गुण के कारण ही मन सभी भूतों से बद्ध है। तत्त्व ज्ञान के कारण ही वह दोषों से मुक्त हो सकता है। संसार में देहान्तर गमन और आगमन का कारण दोष युक्त मन ही होता है। चरक के अनुसार भी रजस् और तमस् का अनुबन्ध निश्चित कहा गया है। रजस् से पृथक् तमस् की प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। प्रकृति अपरिवर्तनशील है, किन्तु त्रिगुणों के अनुसार प्रवृतियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं-

1. सात्विक प्रकृतियाँ:- सत्त्व गुण की मात्रा अधिक होने पर निर्दोष प्रकृतियाँ उत्पन्न होती है-ब्रह्म, महेन्द्र, वारुण, कौबेर, गान्धर्व, याम्य और ऋषिसत्त्व।

2. राजस प्रकृतियाँ:- ये छः प्रकार की मानी जाती है - आसुर, सर्प, शकुन, राक्षस, पैशाच और प्रेमसत्त्व।

Scanned with CamScanner

3. तामस प्रवृतियाँ:- यह भी त्रिविध होती है – पशुसत्व, मत्स्यसत्त्व और वानस्पत्य।

इनके लक्षण चरक और सुश्रुत संहिता शारीर स्थान अध्याय में द्रष्टव्य हैं।

5.2 पञ्चमहाभूत

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व ही पञ्चमहाभूत कहलाते हैं। पञ्चमहाभूतों से ही इन मानव शरीरों, आहार द्रव्यों और औषधि द्रव्यों का निर्माण हुआ है। इन पञ्च महाभूतों की अधिकता या कमी ही शरीर में विकार उत्पन्न करती है, उसे ही दूर करने के लिए उसी के अनुसार औषधि द्रव्यों में घटाने या वृद्धि करने वाले तत्त्वों का समावेश किया जाता है। वैसे प्रत्येक पदार्थ या शरीर में ये पञ्चमहाभूत विद्यमान होते हैं, किन्तु सभी में किसी एक महाभूत की प्रधानता होती है, इसी कारण जिस महाभूत की प्रधानता होती है, वह उसी के अनुसार आकाशीय, वायव्य, आग्नेय, आप्य और पार्थिव द्रव्य कहलाते हैं।

भू धातु में क्त प्रत्यय लगाकर भूत शब्द बना है। जिसका अभिप्राय है जिसकी सत्ता हो अर्थात् जो विद्यमान होता है, वह भूत कहलाता है। भूत किसी के कार्य नहीं हो सकते हैं, अपितु ये उपादान कारण हैं, क्योंकि पञ्चभूतों से महाभूत उत्पन्न होते हैं, चरकाचार्य के अनुसार पञ्चभूत कारण द्रव्य, नित्य, अतिसूक्ष्म एवं इन्द्रियातीत होते हैं। पञ्चमहाभूत संसार के सभी चल-अचल वस्तुओं का निर्माता है। प्रत्येक वस्तुओं में जो गुण होता है, वह इन पञ्च महाभूतों की प्रधानता के कारण ही होता हैं। इनकी पहचान के लिए संक्षेप इनका निरूपण आवश्यक है–

1. पार्थिव द्रव्य:- पार्थिव द्रव्य, भारी, गुरू, कठिन, मन्द, सान्द्र, स्थूल, स्थिर, गन्ध से युक्त, चिपचिपेपन से रहित होता है। इनके सेवन से शरीर में उपचय (धातुओं की वृद्धि), कठिन्य, स्थैर्य, स्थूलता, मोटापा इत्यादि की वृद्धि होती है।

2. आप्य द्रव्य:- जो द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरू, मन्द, सान्द्र, सरल, मृदु, रस गुण युक्त होती है, वह जलीय या आप्य द्रव्य होता है। उसके सेवन से शरीर में आर्द्रता, स्नेह, बन्ध, मार्दव और तृप्ति की वृद्धि होती है।

3. तैजस द्रव्य:- तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद रूप गुण से युक्त,

Scanned with CamScanner

चिपचिपेपन से रहित होते हैं। इनके सेवन से शरीर में जलन, पाक, प्रकाश, प्रभा, वर्ण्य, निखार इत्यादि होता है।

4. वायव्य द्रव्यः- रुक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद्, शीत, खर, स्पर्श गुण युक्त, खुरदरे होते है। इसके सेवन से शरीर में मृदुता, सुषिरता, लघुता, चंचलता और सान्द्रता की अधिकता होती है।

5. आकाशीय द्रव्यः- मृदु, सूक्ष्म, हल्के, समतल, शीतल, खुरदुरे, विशद् और शब्द गुण से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में रुक्षता, लघुता, खुरदुरापन, गति, फुर्तीलापन इत्यादि आता है।

इन पञ्चमहाभूत द्रव्यों के गुणों और शरीर पर उसके प्रभाव को देखकर यह कहा जा सकता है कि शरीर में मुख्य रूप से पृथ्वी और जल महाभूत की प्रधानता होती है, अन्य महाभूत आंशिक रूप से विद्यमान होते हैं। पाचन कर्म आग्नेय, चेष्य इत्यादि कार्य वायव्य महाभूत के कारण होता है। हमारे शरीर में जो -जो महाभूत अधिक या कम हो जाते हैं, उसे उसी क्रम में अधिक या कम कर लेना चाहिए। जिससे शरीर हेतु संतुलित पञ्चमहाभूत का भी संतुलन बना रहता है।

5.3 त्रिदोष

यद्यपि मानव शरीर पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुआ है, किन्तु उसका परिचालन जल, अग्नि और वायु तीन महाभूतों के द्वारा ही होता है। इस समस्त संसार में यह तीनों पञ्चमहाभूत सूर्य, चन्द्र और वायु के रूप में प्राकृतिक और शरीरिक रूप में इनका प्रतिनिधित्व वात (वायु) पित (सूर्य) और कफ (जल) शरीरिक क्रियाओं का संचालन करते हैं। इन तीनों का कार्य शरीर में इस प्रकार का है- वायु का कार्य विक्षेप अर्थात् शारीरिक गतियों का संचालन और नियन्त्रण करना है, पित्त का कार्य आदान अर्थात् आग्नेय गुणों के कारण पाचनकर्म और उसका शोषण करना है और कफ का कार्य विसर्ग अर्थात् जलीय गुणों के कारण शरीर में रस का संचार करना है या पोषण करना है।

'दूषयन्ति मनः शरीरं च इति दोषाः' अर्थात् मन और शरीर को दूषित करने के गुण के कारण, इन्हें दोष कहा जाता है। **दूषनात् दोषाः धारणात् धातवः** अर्थात् वात, पित्त और कफ जब दूषित होकर, रोग उत्पन्न करते हैं, तो दोष कहलाते हैं तथा जब वे साम्यवस्था में रहते हैं, तो सप्त धातुओं व शरीर का

Scanned with CamScanner

धारण करके शरीर को संतुलित करते हैं। चिकित्सा शास्त्रीय शब्दावली में इसे त्रि+दोष अर्थात् वात पित और कफ को संयुक्त होकर रोगावस्था में त्रिदोष कहलाते हैं। वातादि दोष विषमावस्था में रोग को उत्पन्न करते हैं और साम्यवास्था में स्वास्थ्यवर्धक होते हैं। अस्वस्थ्य शरीर को स्वस्थ करने के लिए तीनों दोषों को साम्यावस्था में लाना आवश्यक है। यही आयुर्वेदीय चिकित्सा का मूल है-

1. वात:-वात मानव शरीर का मूल तत्व है, जो शरीर के सभी अङ्ग और उपाङ्गादि को गति देता है और उनका नियन्त्रण करता है। वात में आकाश और वायु दो महाभूतों की प्रधानता होती है। वात इन महाभूतीय गुण के कारण शरीर पर हावी रहता है और पित्त और कफ पर भी नियन्त्रण रखता है।

आयुर्वेद के अनुसार गर्भावस्था के समय ही बच्चे में तीनों दोषों की समानावस्था होने पर शिशु स्वस्थ, विषमावस्था में गर्भ का न ठहरना, भूर्ण का विकास न होना इत्यादि और यदि कोई दोष अधिक मात्रा में है, तो उस दोष के अनुसार बच्चे का गुण, स्वभाव एवं शारीरिक रचना का विकास होता है। जिस प्रकार वात युक्त प्रकृति वाला मनुष्य थोड़ी सी असावधानी के कारण वात दोष से ग्रसित हो जाता है।

शरीर में वात का आश्रय स्थल नाभि के नीचे का भाग, छोटी और बड़ी आँते, कमर, जंघा और हड्डियाँ आदि हैं। इसके सकारात्मक गुणों में कल्पना शीलता, संवदेन, लचीलापन और उल्लासित रहना होता है। वात के आसामान्य होने पर वजन कम होना, शक्ति का ह्रास, चिन्ता, क्रोध इत्यादि उत्पन्न होने लगता है। गठिया, कब्ज, हृदय रोग, मानसिक विकार, उच्च रक्तचाप इत्यादि रोग वात के अनियमित होने के कारण होते हैं।

वात पाँच प्रकारक माना गया है -

1. **'प्राण'** - प्राण वायु सिर, ग्रीवा तथा वक्ष स्थल में स्थित रहता है। यह मस्तिष्क के सभी कार्यों को नियन्त्रित रखता है। प्राण वायु श्वसन क्रिया को भी नियन्त्रित करती है।

2. **'उदान'** - उदानवायु की स्थिति वक्षस्थल और गर्दन में मानी जाती है। यह वाणी को निर्देशित करती है।

3. **'व्यान'**- व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में वास करती है और शरीर के संचार और गतियों पर नियन्त्रण रखती है।

Scanned with CamScanner

4. 'समान' - समानवायु का आश्रय स्थल छोटी और बड़ी आँत में है। समान वायु भोजन के पाचन तथा मल-दूषणों के पृथक्करण को संचालित करती है। यह शरीर के ताप, द्रव्य पदार्थों, पित्त और कफ के कार्यों का भी नियन्त्रण करती है।

5. 'अपानवायु' - अपान वायु मूत्राशय में स्थित है। अपान वायु का मुख्य कार्य मल, मूत्र और वीर्य आदि का निष्कासन करना है। यह वायु स्त्रियों के मासिक धर्म का भी नियन्त्रण करती है।

वात प्रधान व्यक्ति शरीर से कमजोर, हल्का और पतले शरीर वाला होता है, उसकी त्वचा रुक्ष, बाल रूखे, आंखे शुष्क, स्वभाव में चंचलता, मानसिक रूप से कमजोर होते हैं। इन्हें सामान्य: श्वास, गला बैठना, आँख, कान, नाक, मानसिक विकार इत्यादि की सम्भावना रहती है।

वात हमारे शरीर में संकोचन, प्रसारण, उत्कर्षण, अन्तर्नयन, बहिर्नयन, श्वास-उच्छ्वास, गमन आदि कामों का निष्पादन करता है। रक्तसंचार, मल-मूत्रादि विसर्जन, पाचन, रसस्राव, हृदय स्पन्दन आदि कार्य भी वात के द्वारा ही होते हैं।

2. पित्त-पित्त शरीर का अग्नितत्त्व है। जो मानवीय ताप को धारण करता है, भोजन का पाचन कर शरीर के लिए उपयोगी द्रव्यों का निर्माण करता है। यह शरीर में पाचन-संतुलन, रसायनीकरण, यकृत, आमाशय आदि की क्रियाओं का संचालक है। पित्त अग्नि (तेजस् और जरा (आप्) महाभूत के संयोग से युक्त होता है।

शरीर में पित्त का आश्रय स्थल वक्ष, नाभि का मध्य भाग, स्वेद, लसीका, रक्त का पाचन संस्थान और मूत्राशय होता है। इसके कारण शरीर में प्रज्ञा, दृढ़ विश्वास, उद्यमशीलता और आह्लादपूर्ण होता है। पित्त के अनियन्त्रित होने पर पित्त की अधिकता हो जायेगी, जठराग्नि मन्द हो जायेगी, विदग्धा जीर्ण, कामला, शोथ, ज्वरादि अनेक रोग हो जाते है और शरीर में मेद धातु की वृद्धि, शरीर में जलन, पागलपन, अजीर्णता, मधुमेह, जरोदर इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

पित्त पाँच प्रकार का होता है- **'आरोचक'**- आरोचक पित्त प्रकार की स्थिति शरीर में आँख होती है। यह आँखों के रंग और देखने की शक्ति का कारण होता है। **साधकपित्त**- यह हृदय में रहता है। यह मानवीय शरीर के बौद्धिता, स्मरण शक्ति और उत्साह के लिए शक्ति प्रदान करता है। **'भ्राजक'** पित्त की

Scanned with CamScanner

स्थिति त्वचा में होती है। यह शरीर के ताप को नियन्त्रण में रखते हुए त्वचा की रंगत और सौन्दर्यता को निखारने में सहायक होता है। **'पाचक पित्त'** अमाशय और छोटी आंत में रहता है। यह भोजन को पचाने का कार्य करता है। **रञ्जक पित्त** यकृत तथा मूत्राशय में रहता है। यह शरीर में रक्त का निर्माण करता है। यह रसिका द्रव्य को रंगत देता है और शारीरिक प्रतिरक्षण को बढ़ावा देता है।

पित्त प्रधान व्यक्ति शारीरिक रूप से मध्यम, गर्म शरीर वाला, पसीना अधिक आने वाला, आँखे लालिमायुक्त होना, अंगों का रंग काला होना, सामान्य से कम बाल होना, शरीर कोमल, झाइयों युक्त होना इत्यादि गुणों से युक्त होता है। सामान्यत: इन्हें मुख का कड़वापन, पीलिया, मानसिक रोग, चर्मरोग, नेत्र विकार और गर्मी के रोग इत्यादि रोग हो जाते हैं।

पित्त मानव शरीर को ऊष्मा देता है, यह शरीर को रंगत प्रदान करता है। पित्त, पाचन कर्म, पोषण और संवर्धन का कार्य करता है।

3. कफ:- कफ मानव शरीर का जलीय अंश है। कफ में जल और पृथ्वी महाभूत के गुणों की प्रधानता होती है। कफ शरीर में जलीय अंशीय गुण के कारण द्रव्य पदार्थों को धारण करते हुए शरीर की रक्षा करता है और शारीरिक प्रतिरक्षा गुण का भी संवर्धन करता है।

मानव शरीर में कफ का आश्रयस्थल कण्ठ के ऊपर का भाग, कण्ठ, सिर, गर्दन, वक्षस्थल, हड्डियों का जोड़, उदर का ऊपरीभाग एवं शरीर की मेद धातु है। कफ के असामान्य होने से उष्णता में कमी, मेद की वृद्धि, अजीर्णता, मधुमेह, जरोदर और आमवात आदि अनेक प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना रहती है। इसके प्रकृति के कारण मानव में शान्ति, सहानुभूति, साहसीपन, क्षमावानता और स्नेह गुणों का वास होता है।

आयुर्वेद में कफ पाँच प्रकार का होता है - **'तर्पक कफ'** की स्थिति शरीर में सिर होता है। यह कफ मानव शरीर के मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों को उनके कार्य निष्पादन में सहायता प्रदान करता हैं **'बोधक कफ'** मानव शरीर के जीभ और आहारनाल अङ्ग में व्यवस्थित होता है। यह स्वाद अर्थात् भोजन में स्वाद का अनुग्रह करता है। **'अवलम्बक कफ'** मानव शरीर के हृदय और त्रिक में अवस्थित होकर अपना कार्य निष्पादित करता है। यह हृदय के सुचारु रूप से चलने में सहायक होता है। **'क्लेदक कफ'** शरीर के अमाशय में रहता है। हम

Scanned with CamScanner

जब भोजन करते हैं, भोजन छोटे-छोटे कणों में बँट जाता है, तब 'क्लेदक कफ' भोजन को आद्रता अर्थात् नमी या द्रव्यता देता है। **'श्लेष्मक कफ'** मानव शरीर के हड्डियों के समस्त जोड़ों में विद्यमान रहता है। यह शरीर में हड्डियों को सुदृढ़ता और शक्ति प्रदान करता है।

कफ प्रधान व्यक्ति सुन्दर, शारीरिक रूप से बलवान्, सुन्दर बालों वाले, बड़े और सुन्दर नेत्र वालें, धीरे-धीरे भोजन करने वाले, निद्रालु स्वभाव वाले इत्यादि होते हैं। सामान्यत: इन्हें भूख न लगना, शरीर में भारीपन, आलस, मोटापा, स्मरण शक्ति का विनाश, जोड़ों का दर्द इत्यादि रोग हो सकते हैं, कफ प्रधान व्यक्ति के वर्षा ऋतु और शीत ऋतु प्रतिकूल होती है। इन्हें मोटापा जल्दी ग्रसित कर लेता है।

इस प्रकार यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि वात, पित और कफ एक-दूसरे के पूरक हैं और मिलकर ही कार्य करते हैं। इनकी साम्यावस्था का नाम ही स्वास्थ्य है।

5.4 सप्त धातुएँ

'एते शरीरधारणाद् धातव इत्युच्यन्ते' अर्थात् मानव शरीर को धारण करने की शक्ति के कारण ही इन्हें धातु कहते हैं। शरीर के निर्माण में इनका प्रमुख स्थान होता है, क्योंकि ये शरीर में ऐसे तत्वों का निर्माण करते हैं, जो शरीर का पोषण और धारण करते हैं। सप्त धातुओं के निर्माण में भी पञ्चमहाभौतिक तत्त्वों का ही योगदान होता हैं, किन्तु सभी सप्त धातुओं में किसी न किसी महाभूत की प्रधानता होती है। धातुओं की संख्या और क्रम निश्चित है, क्योंकि पूर्व-पूर्व धातुओं के सारभूत तत्त्व से ही उत्तर-उत्तर धातु तत्त्वों का निर्माण होता हैं। क्रम से सात धातुऐं इस प्रकार हैं- रस धातु से रक्त धातु, रक्त धातु से माँस धातु, माँस धातु मेद धातु, मेद धातु से अस्थि धातु, अस्थि धातु से मज्जा और मज्जा धातु शुक्र (वीर्य) धातु की उत्पत्ति देखी जाती है।

1. रस धातु:- जठराग्नि के द्वारा भोजन का पाचन होता है, पाचन क्रिया के कारण जो सार भाग उत्पन्न होता है, उसी सार भूत तत्त्व से रस धातु का निर्माण होता है। रस धातु शरीर निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इससे रक्त धातु का निर्माण होता है। पूरे शरीर में व्यान वायु के द्वारा शरीर का स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण और पोषण करता है।

Scanned with CamScanner

रस धातु की अधिकता और कमी दोनों ही शरीर के लिए हानिकारक होते हैं-मानव शरीर में रस धातु के बढ़ने से पाचन प्रक्रिया में दोष उत्पन्न होने लगता है, उल्टी, शरीर में शिथिलता, अधिक निद्रा, श्वसन प्रक्रिया में अवरोध इत्यादि विकार दिखने लगता है और इसकी कमी से थकान, रूखापन, हृदय रोग, पीलापन, दुर्बलता, बालों में सफेदी इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रस धातु से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा में रसायन औषधि हितकर होती है।

2. रक्त धातुः- जब मानव शरीर में रस धातु की अग्नि आदि क्रिया के द्वारा रस धातु का रूप रक्त वर्ण में परिणत हो जाता है, तो वह रक्त धातु कहलाता है। रक्त धातु शरीर को जीवन और प्राण देता है। इसलिए इसें जीवन का मूल आधार भी कहा गया है- **'रक्तं जीव इति स्थिति'** - सुश्रुत 14.44। रक्त धातु शरीर के वर्ण को निखारता है। रक्त धातु माँस धातु का निर्माण करता है।

स्वस्थ मनुष्य का रक्त न अधिक गाढ़ा, न अधिक पतला और यदि कपड़ों पर लग जाये, तो धोने से आसानी से छूट जाता है। वात प्रधान, पित्त प्रधान और कफ प्रधान व्यक्तियों के रक्त क्रमशः तप्त सुवर्ण की तरह, रक्त कमल की तरह और रत्ती के वर्ण की तरह बताया जाता है। रक्त की अधिक और कमी के कारण रक्त कैंसर, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, कोठ, पीलिया, वातरक्त इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इन रोगों की चिकित्सा हेतु आयुर्वेद रक्त के शुद्धिकरण, पोषण और विरेचनादि पञ्चकर्म करने की सलाह देता है।

3. मांस धातुः- आयुर्वेद मतानुसार मानव शरीर में माँस धातु स्वस्थ शरीर का 41% भार रूप होता है। **'मांस शरीर पुष्टि मेदसश्च पुष्टिं करोति'** अर्थात् मांस धातु शरीर की पुष्टि और सुरक्षा करता है और मेद धातु का निर्माण करता है।

मानव शरीर में मांस धातु की वृद्धि से शरीर भारी और भद्दा लगता है और माँस की कमी से दुबलापन, सूखापन, इत्यादि शरीर में देखे जाते हैं। इसके कारण शरीर में गलगण्ड, शरीर में गाँठे इत्यादि रोग देखे जाते हैं।

माँस वृद्धि हेतु प्रोटीन और वसा युक्त आहार करना चाहिए और कमी के लिए योगाभ्यास और घी, वसा युक्त भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

Scanned with CamScanner

4. मेद धातुः- मेद को ही सामान्य भाषा में वसा या चर्बी कहा जाता है। मानव शरीर में मेद जितना अधिक होगा, वह उतना ही स्थूल होगा। '**मेदः स्नेह स्वेदौ दृढ़त्वं पुष्टिमश्नां च करोति**'- अर्थात् मेद धातु शरीर को स्वेद, स्नेह, कोमलता, सुदृढ़ता और उष्णता प्रदान करती है और मेद अस्थियों को पुष्ट करता है। इनमें श्रमशीलता का अभाव पाया जाता है।

शरीर में मेद धातु के अधिक होते से गण्डमारा, उदरवृद्धि इत्यादि रोग या विकार उत्पन्न हो सकते हैं। थोड़े परिश्रम से शरीर थक जाता है। इसकी कमी से शरीर में सूखापन, जोड़ों में दर्द इत्यादि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इसके कारण पसीना अधिक आना, शरीर में जलन, कण्ठ और तालु का सूखना, थकान इत्यादि रोग हो जाते हैं।

स्थूलता में उपवास और योगाभ्यास करना चाहिए और कृशला में धृत और दुग्ध का पान करना चाहिए।

5. अस्थि धातुः- मानव शरीर की संरचना उसकी अस्थियों पर निर्भर करती है। अस्थियों का सम्पूर्ण विकास और देखभाल अस्थि धातु करती है। शरीरस्थ माँस पेशियाँ स्नायुओं के द्वारा अस्थियों पर ही आश्रित होती हैं। '**अस्थीनि देह धारणं मज्जः पुष्टि च**'-अर्थात् अस्थियाँ मानव शरीर को धारण और सुदृढ़ करती है और मज्जा धातु का पोषण करती है।

अस्थियों की अधिकता से हड्डियों में पीड़ा, श्मश्रु, नाखूनों में विकार इत्यादि समस्या होती है, कमी के कारण अस्थिक्षय, जोड़ों में दर्द, दाँतों और नाखूनों का टूटना इत्यादि रोग देखे जाते हैं।

अस्थि वृद्धि में तिक्त द्रव्यों से युक्त वस्ती कर्म करना चाहिए। अस्थि क्षय में कैल्सियम युक्त आहार का सेवन करना चाहिए जैसे, दूध, दही, पनीर, सूर्य की रोशनी से विटामिन डी को लेना इत्यादि।

6. मज्जा धातुः- आयुर्वेद के मतानुसार मज्जा धातु दो प्रकार माना गया है। पीत मज्जा धातु नलकास्थियों के मध्यविवर और लाल मज्जाधातु गर्भ और शिशु में नलकास्थियों के विवर में विद्यमान होता है। मज्जा धातु सभी प्रकार की अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण और अस्थियों के विवरों के छिद्रों को भरती है। यह बल, शुक्र, रस और मज्जा की वृद्धि करती है-

Scanned with CamScanner

'बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धनः। मज्जा विशेषतोऽस्थे च बलहत् स्नेहने मतः।।'

मज्जा धातु की वृद्धि से शरीर में फोड़े होना, मूर्च्छा, आँखों के रोगादि और मज्जा धातु की कमी के कारण हड्डियों में खोखलापन हड्डियों का टूटना, शुक्र धातु की कमी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मज्जा का क्षय होने पर मज्जा प्रधान आहार का प्रयोग करना चाहिए।

7. शुक्र धातुः- शुक्र धातु पुरुष के शरीर में व्याप्त होता है। शुक्र धातु स्फटिक आभा से युक्त, द्रवित, स्निग्ध, शहद से घना होता है। यह सप्तम शुक्र धातु ही मनुष्य के जीवन का आधार भूत है अर्थात् यह गर्भोत्पत्ति में बीज रूप का कर्म करता है। शुक्र धातु के ही धैर्य, निडरता, विपरीत लिङ् के प्रति आकर्षण, उत्साह, पुष्टि, सम्भोग समय आनन्दानुभूति आदि प्रमुख कार्य होते हैं।

शुक्र धातु की वृद्धि के कारण काम वासना की अधिकता, शुक्र धातु का अधिक स्राव जैसी समस्या हो जाती है और शुक्र धातु की कमी से दुर्बलता, रक्त की कमी, लिङ्ग में जलन, सम्भोग समय शुक्र धातु का स्राव न होना इत्यादि समस्या होती है। इसके कारण मनुष्य में नपुंसकता, रोगी शिशु का जन्म, अल्पायु संतानोत्पत्ति, विरूप संतान उत्पत्ति जैसी समस्या होती है।

अतः शुक्र की अधिकता पर संतुलित आहार और-कमी होने पर शुक्र बढ़ाने वाले आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते है कि जठराग्नि के कारण रस आदि सप्त धातु की अधिकता और कमी हो जाती है, किन्तु तदुपरान्त उनके अनुसार सेवनीय आहार का प्रयोग करना चाहिए। हमारे शरीर में तेरह प्रकार की अग्नियों की स्थिति के कारण इनका क्षय या ह्रास और वृद्धि होती है। अतः इनका साम्यावस्था में रहना आवश्यक होता है। अतः शरीर के मूलाधार ये सात धातु सुरक्षित रहनी चाहिए।

5.5 त्रयोदशाग्नि

मानव शरीर पञ्चमहाभूत, सप्त धातु इत्यादि शरीरोत्पत्ति कारणों से तेरह प्रकार की अग्नियों को धारण करता हैं। इन सभी अग्नियों का कार्य शरीर को स्वस्थ्य रखने से हैं। इन सभी का सञ्चालन अथवा नियन्त्रण सबसे प्रमुख अग्नि जठराग्नि या पाचक अग्नि के हाथों में होता है। मानव शरीर में विद्यमान तेरह अग्नियाँ इस प्रकार हैं- एक जठराग्नि, पाँच भूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियाँ।

Scanned with CamScanner

1. जठराग्नि:- जठराग्नि शरीर में विद्यमान महत्त्वपूर्ण अग्नि है। सामान्य रूप में इसे पाचक अग्नि या कायाग्नि भी कहा जा सकता है। इसका आश्रय स्थल मानव शरीर का आमाशय, छोटी आँत और बड़ी आँत के मध्य नाभि प्रदेश माना जाता है। जठराग्नि अपनी यथाशक्ति के अनुसार मनुष्य के द्वारा खाये गए भोजन का पाचन करती है। मानव शरीर की स्थिति के अनुसार जठराग्नि भोजन को खण्डित करके उसकी शक्ति से भोजन को तरल पदार्थों में परिवर्तित करके शरीर का पोषण करती है।

जठराग्नि पाचन क्रिया के माध्यम से मानव द्वारा सेवनीय भोजन को खण्डित करके शरीर के आयु, वर्ण, स्वर, शक्ति, उत्साह, शारीरिक तापमान का नियन्त्रण रखती है और अन्य सभी 12 अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने का प्रयत्न करती है या सहायता करती है। इन सभी कार्यो के करने के लिए जठराग्नि की साम्यावस्था उत्तरदायी होती है। अगर शरीर में यह अवस्था न हो, तो शरीर रोग से ग्रसित हो जाता है। जठराग्नि चार प्रकार की हो सकती है-

1.1 विषमाग्नि:- विषम अग्नि कभी अत्यधिक तेज होकर कभी भोजन का पाचन शीघ्र, कभी अत्यधिक मन्द होकर भोजन का पाचन कभी बहुत धीरे और कभी समान होकर भोजन का पाचन सामान्य रूप में ठीक ढंग से पचाती हैं। जिसके कारण मानव शरीर में पेट में तेज दर्द, भारीपन, अतिसार कब्ज और जलोदरादि जैसे रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नि की यह अवास्था वात दोष की वृद्धि के कारण होती है।

1.2 तीक्ष्णाग्नि:- नाम के अनुसार ही यह जठराग्नि अत्यधिक तीव्र होती है, जिसके कारण अधिक मात्रा में खाये गये भोजन भी बहुत जल्दी पच जाता है, जिससे मनुष्य अधिक खाने लगता है और इसका विपरीत परिणाम होता है, इस अवस्था में शरीर मे गले, ओठ और तालु में सूखापन होने लगता है। मनुष्य को अत्यधिक गर्मी भी लगने लगती है। इस अग्नि को भस्म भी कहा जाता है, क्योंकि यह सबकुछ को भस्म कर देती है। जठराग्नि की इस अवस्था भेद की स्थिति मानवशरीर में पित्त दोष की अधिकता के कारण होती है।

1.3 मन्दाग्नि:- इस अवस्था में जठराग्नि अत्यधिक मन्द गति वाली हो जाती है। जिस कारण अत्यधिक अल्प मात्रा में खाये गये भोजन का भी पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। इस कारण शरीर के पेट और सिर, अङ्गों में

Scanned with CamScanner

भारीपन, श्वसन प्रक्रिया का बाधित होना, उल्टी, शरीर में विकारादि उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नि की यह अवस्था कफ दोष के कारण होती है।

1.4 समाग्निः- जठराग्नि की समान अवस्था शरीर के स्वस्थ्य रहने में अत्यन्त सहायक है। जठराग्नि की समाग्नि समय पर और उचित मात्रा में खाये गये भोजन का पाचन कार्य ठीक प्रकार से करके शरीर को निरोग रखती है, क्योंकि इस समय भोजन का पाचन न अधिक, जल्दी, न अधिक मन्द होता, अपितु समान स्थिति में हो जाता है। इस अवस्था में वात, पित्त और कफ-ये तीनों दोष भी मानव शरीर में समानवस्था में ही रहते हैं।

2. भूताग्नियाँः- पञ्चमहाभूतों की प्रधानता को केन्द्रित करके यह अग्नियाँ भी पाँच प्रकार की हो जाती है। ये पञ्चभूताग्नियाँ जठराग्नि के द्वारा किये गए पाचित खाने का अपने महाभूत के अनुरूप रस में परिवर्तन करती हैं और उनका पाचन करती हैं। यह भूताग्नि का समूह मानव शरीर के यकृत अंश में विद्यमान रहता है और भोजन को पाँच अङ्गों में विभक्त करके अपने-अपने महाभूत से संयोग करके शरीर का पूर्णता पोषण और सम्वर्द्धन प्रदान करती है। पञ्च महाभूतों के आधार पर यह पञ्चभूताग्नि इस प्रकार हैं- 1. भौमाग्नि, 2. आप्याग्नि, 3. आग्नेयाग्नि, 4. वायव्याग्नि और 5. आकाशाग्नि।

3. धात्वग्नियाँः- सप्त धातुओं से युक्त होने से यह अग्नियाँ भी सात प्रकार की हो जाती है। यह सप्तधात्वग्नियाँ जठराग्नि और पञ्चभूताग्नि के द्वारा किये गए पाचित भोजन के अंश का परिवर्तन अपने-अपने धातुओं के अंशों के अनुसार करके पुनः इसका पाचन करती हैं। इन धात्वग्नियों के तीव्र होने सम्बद्ध धातु की वृद्धि और मन्द होने से सम्बद्ध धातु भी क्षय को प्राप्त होते हैं। जिसके कारण रोगादि विकार उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में सात धातुऐं विद्यमान है, उसी कारण उनकी अग्नि भी सात प्रकार की हो जाती है, जो शरीर में विद्यमान रहकर अपना कार्य करती है। ये सप्तधात्वग्नियाँ इस प्रकार हैं- 1. रसाग्नि, 2. रक्ताग्नि, 3. मांसाग्नि, 4. मेदोग्नि, 5. अस्थ्यग्नि, 6. मज्जाग्नि और 7. शुक्रग्नि पुरुषों में और रजोग्नि स्त्रियों में पाचन क्रिया की सम्पादन करती है।

इस प्रकार ये सभी अग्नियाँ संयुक्त होकर भोजन को किस प्रकार शरीर के अनुरूप बनाती है। यह अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया के साथ दर्शनीय तत्त्व भी है। यदि ये अग्नि न हो, तो भोजन का पाचन ही सम्भव नहीं हैं और यदि अग्नि नष्ट हो जाये, तो मानव शरीर भी नष्ट हो जायेगा।

Scanned with CamScanner

5.6 त्रिमल

मानव शरीर में भोजन का पाचन जठराग्नियाँ सहित 13 प्रकार की अग्नियों के द्वारा सम्पन्न होता है। जिसके परिणाम स्वरूप भोजन का विखण्डन होता है और भोजन के सार तत्त्व से धात्वादि और पञ्चभूतादि का निर्माण और पोषण होता है, वही भोजन के असार तत्त्व अर्थात् मल पदार्थों का निर्माण होता है, क्योंकि ये मल पदार्थ मानव शरीर को दूषित करके विकारादि से ग्रसित कर देते हैं, अत: ये मल कहलाते हैं। मानव शरीर के स्वस्थ रहने में यह मल पदार्थ हानिकारक होते है, इसलिए इनका विसर्जन आवश्यक होता है। यदि ऐसा न हो, तो शरीर विविध प्रकार के रोग से ग्रसित हो जाता है।

इन मल पदार्थों में भोजन के असार तत्त्व के अतिरिक्त चयापचय क्रिया के कारण अवशिष्ट पदार्थों में बढ़ा हुआ वात, पित्त, कफ, व्यर्थ के तत्त्व इत्यादि भी सम्मिलित होते हैं। सामान्यत: मल पदार्थ स्वाभाविक क्रिया के द्वारा ही शरीर से त्रिमल अङ्गों की ओर विसर्जित होने के लिए गति करते हैं, किन्तु किसी कारण वश यदि ऐसा न हो, तो उन्हें निकालने का प्रयास करना चाहिए। मल, मूत्र, पसीना, नाखून, बाल, शरीर से निकलने वाला मैल, बलगम इत्यादि सभी मल हैं, किन्तु महत्त्वपूर्ण होने के कारण यह तीन ही मूल मल पदार्थ माने जाते हैं। इनका निरूपण किया जा रहा है-

1. पुरीष (मल):- पुरीष पदार्थ का निर्माण शरीर में भोजन के पाचन से अवशिष्ट असार भाग के अतिरिक्त ऊतकों के द्वारा निकाले गए व्यर्थ पदार्थों के संयोग से होता है। इसी कारण विना खाये व्यक्ति में भी पुरीष मल की विद्यमानता होती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पुरीष का शरीर से बाहर निकलना अत्यधिक आवश्यक है। यदि उसका विसर्जन ठीक प्रकार से नहीं होता है, तो पेट के रोग, कमर दर्द, आमवात, पक्षाघात, दमा इत्यादि जैसी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है। विसर्जन का ठीक प्रकार से न होना आँतों में कीड़े की वृद्धि को बढ़ा देता है। शरीर के लिए लाभकारी जीवाणु को ग्रसित करके शरीर को रोगी कर देते हैं। इसीलिए प्राय: सभी आयुर्वेदिक चिकित्सा में पेट खाली करने हेतु औषधि देने की विधान किया जाता है।

पुरीष मल पदार्थ के साथ ही शरीर, वात और अग्नि को धारण भी करता है। पुरीष आन्त्र का पोषण भी करता हैं। यदि मनुष्य में पुरीष न हो, तो उसी आन्त्र

Scanned with CamScanner

सिकुड़ जाती है, किन्तु पुरीष की अधिक मात्रा पेट दर्द, अफारा, शरीर में भारीपन को जन्म देता है। पुरीष की कम मात्रा से अतिसार, आँतों में ऐंठन इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

पुरीष को बढ़ाने के लिए उड़द, जौ, पत्तेवाली सब्जियाँ, चोकर वाले आटे का प्रयोग हितकारी होता है।

2. मूत्र:- मानव शरीर की आद्रता का नियन्त्रण मूत्र के माध्यम से ही होता है। मूत्र के माध्यम से शरीर के व्यर्थ के पदार्थ या तरल अंग ही विसर्जित होते हैं। स्वस्थ रहने के लिए गर्मी और शीत, दोनों ऋतुओं में ही अधिक मात्रा में जल पीने की सलाह दी जाती हैं, जिससे व्यक्ति कम से कम छः बार मूत्र का त्याग करके अपने शरीर के तरल हानिकारक पदार्थ का विसर्जन करें। आयुर्वेद मतानुसार मूत्र त्याग तक स्वाभाविक विरेचक है, जो शरीर से विषैले द्रव्यों को विसर्जित करके शरीर को स्वस्थ रखता है।

मूत्र की अधिकता के कारण वस्ति प्रदेश में दर्द, भारीपन और बैचेनी, मूत्र की कमी से वस्ति प्रदेश में पीड़ा, मूत्र त्यागते समय दर्द, अधिक प्यास इत्यादि विकार शरीर में दिखाई पड़ते हैं। इन अवस्थाओं से उबरने के लिए तरल पदार्थों का सेवन करना चाहिए, जैसे गन्नेका रस, अम्ल, लवण, युक्त तरल पदार्थ आदि।

3. स्वेद (पसीना):- त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए शरीर में पसीना निकलना एक स्वाभाविक प्रक्रिया स्वरूप ही है। इस प्रक्रिया के माध्यम से शरीर के व्यर्थ पदार्थ शरीर से निकल जाते हैं और त्वचा सुन्दर और कोमल बनी रहती है। पसीना का निकलना शरीर के ताप को भी नियन्त्रण कर देता है; जिससे शीत और ग्रीष्म दोनों ऋतुओं में शरीर का ताप समान बना रहता है।

सामान्यत: पसीना हर मौसम में विसर्जित होता है, किन्तु इसका अनुभव हमें ग्रीष्म ऋतु में अधिक होता है। अधिक मात्रा में पसीना आने से त्वचा में दुर्गन्ध, खुजली और कम मात्रा में पसीना आने से त्वचा में रूखापन और त्वचा का फटना इत्यादि विकार देखने को मिलते हैं। विभिन्न उपायों के द्वारा स्वेद या पसीना बहने की मात्रा को संतुलित किया जा सकता है। जैसे व्यायाम, स्वेदन, तरल पदार्थों का अतिसेवन स्वेद को बढ़ाता है और इसके विपरीत क्रिया स्वेद की मात्रा को कम करती है।

Scanned with CamScanner

इस प्रकार यह स्पष्ट हो पाता है, मल पदार्थ भी किसी न किसी रूप से शरीर को स्वस्थ रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि यह शरीर का भरण और पोषण भी करते हैं, किन्तु इनकी संतुलित मात्रा ही शरीर के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद के ये मूल सिद्धान्त ही मानव शरीर की आयु का खयाल रखते हैं, उसका संवर्धन करते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोष, सप्त धातु, पंचमहाभूत और मल किसी न किसी रूप में शरीर भरण और पोषण तो करते ही हैं और यदि प्रकुपित हो जाये तो आयु का नाश भी कर देते हैं। अतः इनको स्वस्थ और संतुलित रखना अत्यन्त आवश्यक है।

Scanned with CamScanner

6

आयुर्वेदिक स्वस्थ वृत्त

'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य च विकार प्रशमनम्' अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी व्यक्ति के रोगों को दूर करना। यह आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य माना गया है। आयुर्वेदानुसार कोई जीव या प्राणी या मनुष्य तभी स्वस्थ रह सकता है, जब वह शारीरिक रूप से, समाग्नि युक्त, त्रिदोष की समानावस्था से युक्त, समान धातु, मल और कर्म से प्रसन्नचित्त, मन एवं इन्द्रियों से युक्त हो। इसलिए मनुष्य को अपने स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग समयानुसार अलग स्थिति के अनुरूप अपने जीवन के क्रिया कलापों को करना चाहिए। यह जीवन यापन के क्रियाकलाप दिनचर्या, ऋतुचर्या, पथ्य आहार-विहार इत्यादि स्वस्थ वृत्त के लक्षण हैं। स्वस्थ वृत्त को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - वैयक्तिक और सामाजिक।

आयुर्वेद मतानुसार वैयक्तिक स्वास्थ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्वस्थ मनुष्य ही स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है और समाजिक कार्यों को कर और करा सकता है। इन सभी के लिए व्यक्ति को स्वस्थ रहना पड़ेगा और स्वस्थ रहने के लिए अर्थात् स्वास्थ्य की दृष्टि से दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, आहार-विहार, पथ्य-अपथ्य इत्यादि का संयमपूर्वक पालन करना, व्यक्ति का नैतिक धर्म बन जाता है।

6.1 दिनचर्या

मनुष्य की दिनचर्या कैसी हो, उसमें क्या-क्या होना चाहिए, इन सभी प्रश्नों का उत्तर हमें आयुर्वेद के प्रायः सभी ग्रन्थों में प्राप्त हो जाता है। यथा- उठने का समय, शौच, दन्तधावन, अभ्यंग, स्नानादि आदि का उपयुक्त समय क्या हो? अब इनके विषय में संक्षिप्त चर्चा-विमर्श कर लेते हैं-

Scanned with CamScanner

(i) उठने का समय:- प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य को ब्रह्ममुहूर्त अर्थात् सूर्योदय से दो घंटे पूर्व अपनी शय्या को छोड़ देना चाहिए। उठने का यह समय अत्यधिक शुभ और उपयुक्त माना जाता है, क्योंकि ब्रह्ममुहूर्त में शरीर को स्वच्छ, सात्त्विक और प्रदूषण रहित वायु की प्राप्ति होती है। ब्रह्ममुहूर्त में उठना यह नियम निरोगी अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के लिए है। यदि व्यक्ति रोग ग्रस्त है, तो वह देर तक सो सकता है। प्रात: काल में शरीर, मन और बुद्धि स्वच्छ और निर्मल होते हैं, अत: इस समय पढ़ा पाठ, अधिक समय तक स्मरण रहता है। ब्रह्म मुहूर्त के समय उठने पर नित्य कर्म करने से नित्य आयु की रक्षा होती है।

(ii) मलोत्सर्ग या मल त्याग करना:- शरीर की जीर्णाजीर्णता आदि की चिन्ता त्याग करके मल का त्याग मौन होकर करना चाहिए। प्रयत्नपूर्वक मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिए। आज के भागदौड़ भरी जिन्दगी में नियमित रूप से मल का त्याग न करना, कई रोगों को पनपने का अवसर देते हैं, नियमित रूप से मल उत्सर्जन न होने के कई कारण भी है, यथा रात्रि में देर से खाना, अपच, नींद का न आना, तनावग्रस्त जीवन इत्यादि। मल का त्याग ठीक प्रकार से नहीं होने से गैस, सिरदर्द, थकान, कब्ज, सुस्ती सिने में दर्द इत्यादि विकारादि अत्यधिक शरीर को परेशान करते हैं। जो आगे चलकर गंभीर रोग का रूप लेकर मानव जीवन को कष्टसाध्य और दुष्कर बना देते हैं।

यदि आप नियमित और प्रतिदिन मल का त्याग करते हैं, तो आपका शरीर स्वस्थ, पवित्र और दुर्गन्ध रहित होकर स्वच्छ हो जाता है। इसके लिए आपको उचित मात्रा में संतुलित आहार का सेवन करना चाहिए। यथा- घीया, तोरी, अंजीर, मुनक्का, रेशेदार-पत्तेदार सब्जियाँ इत्यादि।

(iii) मुख-प्रक्षालन:- मल का त्याग करने के पश्चात् अपने हाथों को अच्छी प्रकार साबुन से धोकर, स्वच्छ जल से अपने मुख, आँख, नाक, कान तथा चेहरे को अच्छी तरह धोना चाहिए और आचमन करना चाहिए। इससे सुस्ती का नाश और मुख की शुद्धि होती है। मुख धोने के लिए किसी भी प्रकार का दुर्गन्ध से युक्त, फेनयुक्त तथा क्षारीय पानी प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(iv) दाँत साफ करना:- आयुर्वेद मतानुसार आक, वट, खैर, करुज, सर्ज, अर्जुन इत्यादि वृक्षों की या कषाय, कटु, तिक्त रस वाली, जिसका अग्रभाग कोमल हो, उसकी दातुन से प्रात: और भोजन के पश्चात् दातुन करना चाहिए।

Scanned with CamScanner

असञ्चारी द्रव्य की मात्रा होती है और कवच उसे कहते हैं, जिसमें द्रव्य की मात्रा मुख दायें से बायें फेरी जाती है। इसके लिए तिल या सरसों का तैल के प्रयोग को उत्तम कहा गया है। गण्डूष से ओठों का फटना, मुख का सूखना, दाँतों के रोग तथा स्वरादि भेद नहीं होता है। कवल दो अरुचि, मुख की विरसता, मलिनता, दुर्गन्धता इत्यादि का नाश हो जाता है।

(viii) अभ्यंग:-आयुर्वेद मतानुसार प्रतिदिन शरीर पर अभ्यग अर्थात् तैल की मालिश करनी चाहिए। इससे शरीर बुढ़ापा रहित, थकान रहित और वायु के नष्ट होने स्वस्थ रहता है। दृष्टि निर्मल हो जाती है, शरीर बलवान् होता है। आयु बढ़ती है। नींद ठीक प्रकार से आती है और त्वचा निर्मल, स्वच्छ, शरीर दृढ़ हो जाता है। तैल मालिश लोम के अनुरूप करना चाहिए, अधिक जल्दी या जोर लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। धूप में या मालिश से तैल शरीर में जल्दी सूख जाता है।

सिर, कान और पैर के तलवों का विशेष रूप से प्रतिदिन अभ्यंग करना चाहिए। पैरों में प्रतिदिन तेल लगाने से नेत्र की ज्योति बढ़ती है, शुष्कता, खुदरापन, थकावट, पैरों का फटना, आदि नहीं होते हैं। कान में भी प्रतिदिन तेल डालना चाहिए, इससे कान दर्द, बहरापन, हनुभूत, कान के रोग इत्यादि नहीं होते हैं, सिर पर तैल लगाने से बालों के गिरना रुकता है, सफेद बालों में कमी होती है, सिरदर्द नहीं होता है। चेहरे की त्वचा भी कांतिवर्धक होती है।

कफ से पीड़ित, वमन-विरेचन से जिसने शरीर का शोधन किया है और अजीर्ण रोगी को अभ्यंग नहीं करना चाहिए।

(ix) व्यायाम:-वाग्भट्ट के अनुसार **'शरीरायासजनं कर्म व्यायामसंज्ञितम्'** अर्थात् जिस कार्य से शरीर में थकान का अनुभव हो, उसको व्यायाम कहा जाता है। प्रतिदिन व्यायाम करने से शरीर सुदृढ़ और बलवान् बना रहता है। व्यायाम अभ्यग के पश्चात् करने से शरीर का तैल अच्छी तरह शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। आयुर्वेद मतानुसार शक्ति से अधिक व्यायाम नहीं करना चाहिए, वह शरीर का नुकसान दे सकता है। व्यायाम अपनी आधी शक्ति अर्थात् माथे पर पसीना आना तक करना चाहिए।

व्यायाम वात-पित्त रोगी, बालक, वृद्ध और अजीर्ण रोगी को नहीं करना चाहिए। सभी ऋतुओं में व्यायाम करना चाहिए। हेमन्त, शिशिर और बसन्त ऋतु

Scanned with CamScanner

में अपनी आधी शक्ति से व्यायाम करें। अन्य शेष ग्रीष्म, वर्षा, और शरद् ऋतु आधी शक्ति से भी थोड़ा व्यायाम करना चाहिए। थकान का अनुभव होने पर व्यायाम छोड़ देना चाहिए। व्यायाम करने के पश्चात् सम्पूर्ण शरीर को सुखपूर्वक इस प्रकार करें जिससे किसी प्रकार का कष्ट न हो और शरीर की थकान नष्ट हो जाए।

व्यायाम करने से शरीर में लघुता, कार्यक्षमता तथा जठराग्नि अधिक बलशाली हो जाती है। व्यायाम सदैव अपनी यथा शक्ति के अनुसार ही करना चाहिए। व्यायाम से शरीर दृढ़ हो जाता है।

(x) उद्वर्तन या उबटन:- कषाय आदि चूर्ण या कल्क के द्वारा शरीर की मालिश करना, उबटन या उद्वर्तन कहलाता है। यह उबटन भी रुक्ष और स्निग्ध भेद के कारण दो प्रकार का कहा जाता है। उबटन के लिए सरसों के चूर्ण में दूध मिलाकर, चने के बेसन में तेल मिलाकर या दही की मलाई मे तैल मिलाकर उबटन करना चाहिए।

उबटन लगाने से कफ का नाश, मेद का विलीन, अङ्ग का स्थिर होना और त्वचा का निर्भर होना कहा गया है। इस उबटन क्रिया से शरीर के रोमकूप खुलते हैं और शरीर के अङ्ग स्थिर हो जाते हैं।

(xi) स्नान:- स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन स्नानादि व्यवहार करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ रहता है और मन प्रसन्न रहता है। स्नान कर्म आयुर्वेद के अनुसार अग्निदीपक, वृष्य (मन की प्रसन्नता) आयु बढ़ाने वाला, उत्साह वर्धक और बल देने वाला होता हैं। यह शरीर की खुजली, मल, थकान, पसीना, तन्द्रा, प्यास, दाह और पाप का नाश करने वाला होता है। गर्म पानी से शरीर के निचले भाग को परिषेक करना चाहिए। अधोभाग के लिए शीतल जल का ही प्रयोग करें। गर्म पानी इन्हें नुकसान पहुँचाता है। सिर और आँखों को गर्म पानी हानि पहुँचाता है, जिससे इनकी शक्ति क्षीण हो सकती है।

अर्दित रोगी, नेत्ररोगी, मुखरोगी, कर्णरोगी, अतिसार, पीनस और अजीर्ण रोगी इत्यादि को स्नान नहीं करना चाहिए। स्नान करने से रोग की वृद्धि हो सकती है।

(xii) भोजन:-आयुर्वेद के अनुसार पूर्व में ग्रहण किए आहार के जीर्ण होने अर्थात् पच जाने पर हितकारी और पथ्य भोजन उचित मात्रा में खाना चाहिए।

Scanned with CamScanner

भोजन को अपनी इच्छानुसार, प्रवृत्ति अनुकूल ही लेना चाहिए यदि किसी से ग्रसित है, तो उसे शान्त करने का उपाय करें, तत्पश्चात्, जिह्वानुसार भोजन का ग्रहण करें। भोजन को पवित्र होकर, प्रसन्न होकर, अग्नि में हवनादि से निवृत्त होकर, मौन रहकर करना चाहिए। शत्रु, गणिका, धूर्त तथा पणिक का अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए।

सद् आहार से या आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल और निश्चयी होती है। सभी समय व्यक्ति को उचित मात्रा में खाना चाहिए, क्योंकि अधिक मात्रा में खाया भोजन सभी दोषों को प्रकुपित कर देता है और अत्यन्त भोजन बल, पुष्टि, कान्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता है। वह वात रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

(xiii) सद्वृत्त या आचरण:- विधि एवं निषेध के द्वारा सद्वृत्त का उपदेश पालन करना चाहिए। आयुर्वेद का सुख आरोग्य है। सभी प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ सुख के लिए होती हैं। सुख के लिए धर्म की आवश्यकता होती है। इसलिए प्राणि मात्र को धर्मानुकूल आचरण करना चाहिए। सत्कार्य में प्रेरणा देने वाले और सहायक मित्रों में आस्था रखनी चाहिए; किन्तु असत्कार्यों में प्रेरणा देने वाले या सहायकों से दूरी बनाकर रखना चाहिए।

'त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं या विरोधयन्' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से रहित कोई कार्य न करे और इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम का सेवन करे, जिससे इनमें आपसी विरोध न हो सके। लोकाचार का पालन करें। क्योंकि सभी क्रियाओं में समाज ही आचार्य स्वरूप होता है, लौकिक व्यवहार में लोक (समाज) का ही अनुकरण करना चाहिए। इन्द्रियों को वश में रखकर कार्य करना चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में मनुष्य की दिनचर्या किस प्रकार की होनी चाहिए। यह आयुर्वेदानुसार कहने का प्रयास किया गया है। क्या-क्या करना चाहिए या क्या-क्या नहीं करना चाहिए इन सभी का उपर्युक्त समावेश करने का प्रयास किया गया है।

6.2 रात्रिचर्या

वैसे तो रात्रि और दिन इन दोनों को मिलाने पर ही एक कार्य दिवस का निर्माण होता है, किन्तु विवेचन क्रम में इसे पृथक्तया निरूपित किया जा रहा है।

Scanned with CamScanner

मनुष्य को चाहिए कि वह यह चिन्तन करें कि किस प्रकार मैंने जीवन व्यक्ति किया अर्थात् मैंने दिन में क्या-क्या किया और रात्रि में क्या-क्या किया, इसकी सदैव स्मृति रखने से किसी प्रकार का दु:ख नहीं होता है।

रात्रिचर्या से अभिप्राय हमें कब शयन कक्ष में जाना चाहिए, कब शयन करना चाहिए, कब तक शयन करना चाहिए, किस प्रकार के शयन कक्ष में सोना चाहिए इत्यादि है।

(i) नींद:- मानव शरीर को स्वस्थ और शक्तिशाली या क्रियाशील रखने के लिए लगभग 6-8 घंटों की नींद आवश्यक मानी गई हैं। सम्पूर्ण दिनचर्या सभी कार्यों को करते-करते मनुष्य का शरीर, इन्द्रियाँ, मस्तिष्कादि सभी थक कर निष्क्रिय हो जाते हैं, यही निंद्रा की अवस्था कही जा सकती है। सोने से मनुष्य सारी इन्द्रियाँ, मस्तिष्क, मन, इत्यादि, सभी शारीरिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं और वह पुन: ऊर्जावान् होकर प्रात: अपनी दिनचर्या में व्यस्त हो जाता है।

प्रकृति में रात्रि का समय ही सोने के लिए उपयुक्त माना जाता है। इस समय शान्ति, सुकुन के कारण मानव का शरीर नींद की अवस्था में आ जाता है और इसी समय की नींद को आयुर्वेद भी श्रेष्ठ मानता है। दिन में सोना शरीर के लिए भी हानिकारक होता है। आयुर्वेदानुसार रात्रि में उचित समय पर सोकर सुबह ब्रह्ममुहूर्त में उठना चाहिए। शीघ्र उठना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होता है।

मनुष्य को अच्छी नींद के लिए शान्तचित्त मन के साथ शारीरिक श्रम और थकावट की भी आवश्यकता होती है। जिन व्यक्तियों को गहरी नींद आ जाती है, उनकी मन, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं और उठने पर मन और शरीर स्वस्थ, तरोताजा सा लगता है, यह अवस्था सुषुप्तावस्था की होती है। स्वप्नावस्था मनुष्य को और अधिक थका देती है। इसी कारण कई बार व्यक्ति 'अनिंद्रा' आदि वेगों से ग्रसित हो जाता है, जिससे अनेक शारीरिक और मानसिक विकार से ग्रसित हो जाता है।

पुनरपि उसे दूर करने का साध्य करना पड़ता है। निंद्रा के लिए सायंकाल लघु एवं हितकारी भोजन करके, पवित्र होकर ईश्वर स्मरण करके सोना चाहिए। शयन कक्ष ऋतु के अनुसार ठण्डा या गर्म होना चाहिए। शय्या सुखदायी एवं पर्याप्त लम्बी और चौड़ी होनी चाहिए। इससे आपको सोने में परेशानी नहीं होती है।

Scanned with CamScanner

रात्रि में दही या इस प्रकार के भोजन का परिहार करना चाहिए। जो शरीर को नुकसान पहुँचा सकती है। रात्रि को पठन-पाठन का कार्य भी आँखों और शरीर के लिए हानिकारक होता है। भोजन के तुरन्त बाद शैय्या पर सोने नहीं जाना चाहिए, उससे पूर्व भ्रमण कार्य करना आवश्यक होता है, यह आपके भोजन के पाचन में सहायक होता है।

उचित दिनचर्या और रात्रिचर्या का पालन करने से व्यक्ति उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। यदि उसकी दिनचर्या और रात्रिचर्या में विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती है, तो वह कई प्रकार के रोगों यथा अतिकृशता, मोटापा, चिन्ता, अवसाद इत्यादि विकारों का दास बन जाता है। इन विकारों के शमन के लिए तदोपचार अपनाया जाना चाहिए।

6.3 ऋतुचर्या

मनुष्यों के जीवन पर 'ऋतु' का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य की प्रवृति के अनुरूप किसी ऋतु में किसी दोष की शान्ति होती है और किसी दोष की प्रवृत्ति होती है और दूसरी ऋतु में इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। आयुर्वेद प्रत्येक ऋतुओं के अनुसार मनुष्यों की शैली का उल्लेख करता है, जिसका पालन करना, हितकारी होता है। जिससे व्यक्ति रोगों से बच सकता है और यदि रोग से ग्रसित हो जाता है, तो उनका शोधन कर सकता है।

चरक ने ऋतुओं से सम्बद्ध आहार-विहार का निरूपण **'तस्याशितीय'** छटे अध्याय में निरूपित किया है। चरक का मानना है कि ऋतुओं के अनुकूल ऋतुचर्या को चलाने पर व्यक्तियों में अशित, पीत, लीढ़ खादित आहार से बल और वर्ण की वृद्धि होती है, किन्तु सामान्य व्यक्ति को सर्वप्रथम यही जिज्ञासा होती है कि ऋतु क्या है, यह कितनी है और तब इनके अनुसार क्या-क्या आहार-विहार होने चाहिए?

इन सभी का समाधान किया जा रहा है- आयुर्वेद मतानुसार प्राचीन आचार्यो ने ऋतु का विचार भारत की भौगोलिक स्थिति के अनुसार मास, राशि और ऋतु के अपने स्वरूप के अनुसार किया है। इसमें मास लक्षण से राशि लक्षण बलवान् है और राशिलक्षण से ऋतु स्वरूप लक्षण उत्तरोत्तर बलवान् होना सिद्ध है।

ऋतुचर्या या **ऋतुसात्म्य** अर्थात् ऋतु और सात्म्य दो शब्दों से मिलकर बना

Scanned with CamScanner

है जिसमें ऋतु का अर्थ है ऋच्छति या गति करना और सात्म्य शब्द का अर्थ है अनुकूलता। इसका आशय यह हुआ कि किस-किस ऋतु में क्या-क्या आहार-विहार उचित है और क्या-क्या आहार-विहार अनुचित है, इन सभी का ज्ञान करके उसके अनुकूल व्यवहार करना **ऋतुसात्म्य** कहा जा सकता है। सात्म्य आठ प्रकार का कहा जाता है- जाति, आतुर, धान्य, रस, देश, ऋतु, उदकसात्म्य। सात्म्य जो शरीर में उपकार के लिए शयन या निवास करे। साम्य को ही उपशय भी कहते हैं। साम्य का ही पर्यायवाची उपशय है। हेतु (निदान) विपरीत, व्याधि (रोग) विपरीत, हेतु व्याधि विपरीत अर्थ (प्रभाव) को करने वाली औषध (हारीत की), अन्न (भक्ष्य, भोज्यादि पदार्थ), विहार (नहाना धूमनादि) के सुखदायक उपयोग को व्याधि का उपशय कहा जाता है, इसी को सात्म्य भी कह सकते हैं। हैनिमैन की होमियोपैथिक चिकित्सा विपरीतार्थकारी चिकित्सा पद्धति का उदाहरण है।

मास, राशि और ऋतु विभाग के अनुसार यह **भारतीय संवत्सर** अथवा **सम्पूर्ण वर्ष** 12 मास, 12 राशि और छः ऋतुओं में विभक्त है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

काल	मास	राशि	ऋतु
विसर्गकाल (दक्षिणायण)	मार्ग शीर्ष और पौष	वृश्चिक और धनु	हेमन्त ऋतु
आदानकाल (उत्तरायण)	माघ और फाल्गुन	मकर और कुम्भ	शिशिर ऋतु
आदानकाल (उत्तरायण)	चैत्र और वैशाख	मीन और मेष	वसन्त ऋतु
आदानकाल (उत्तरायण)	ज्येष्ठ और आषाढ	वृष और मिथुन	ग्रीष्म ऋतु
विसर्गकाल (दक्षिणायन)	श्रावण और भाद्रपद	कर्क और सिंह	वर्षा ऋतु
विसर्गकाल (दक्षिणायन)	अश्विनी और कार्तिक	कन्या और तुला	शरद् ऋतु

Scanned with CamScanner

आदान काल का वर्णन:- इस प्रकार पूरे वर्ष में छः ऋतुऐं होती हैं। इनमें सूर्य का उत्तर की ओर जाने का समय **उत्तरायण** अर्थात् **आदान काल** अथवा शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुऐं जानना चाहिए। इस काल में सूर्य प्रतिदिन मनुष्यों का बल हरण करता है और मनुष्य में निर्बलता आती है। इस काल में सूर्य की शक्ति प्रबल होती है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, औषधियों सभी पर पड़ता है। आदान काल में पृथ्वीं स्वभावत: सम्पूर्ण संवत्सर में छः मास तक अपनी छुरी के साथ दक्षिण की ओर शेष छः मास उत्तर की ओर भ्रमण करती है। जब पृथ्वी क्रमशः दक्षिण की ओर झुकती है, तो उत्तरी भूभाग सूर्य की तीव्र किरणों के प्रभाव में रहता है। सूर्य की तीव्र उष्मा पृथ्वी के जलीय अंश का शोषण करती है, वायु की नमी में कमी होती है, उष्णता और रुक्षता बढ़ती है। इस काल में सोम्य अंश का शोषण हो जाता है, अत: यह आदान काल कहलाता है। आदान काल की ऋतुओं में सूर्य उत्तरोत्तर अधिक बलशाली होकर वायु के साथ अधिकाधिक रुक्षता को उत्पन्न करता है और रुक्षता से युक्त तिक्त, कषाय रसों की वृद्धि करता है। जिससे मनुष्यों, जीवों के शरीर में दुर्बलता आती है। दूसरे तिक्त कषाय और कटु रक्त की बलवानता के कारण यह आग्नेय काल है।

विसर्ग काल का वर्णन:-आदान काल के विपरीत पृथ्वी दक्षिणायन अर्थात् विसर्ग काल में सूर्य उत्तरी भूभाग से दूर और दक्षिणी भाग के समीप आ जाता है, जिससे उष्णता की कमी और शीतलता की वृद्धि होने लगती है। इस काल में सूर्य के द्वारा आदान काल में ग्रहण की गई सोम्यता या रस को छोड़ता है या विसर्ग करता है। वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतु इस विसर्गकाल में ग्रहण की जाती है। सूर्य के दक्षिण की ओर जाने से आदान काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है, चन्द्रमा (सोम) बलवान् होता है और सूर्य की तीव्र किरणें भी तीव्र नहीं रहती है। बादल, वर्षा और शीतलता पृथ्वी की गर्मी को शान्त कर देते हैं और वातावरण में क्रमशः स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा मधुर रसों और मनुष्यों के बल में वृद्धि होती है। यदि बल की तुलना की जाए तो हेमन्त और शिशिर ऋतु में मनुष्यों का बल श्रेष्ठतम होता है, वर्षा और ग्रीष्म में न्यून बल और शरद् और वसन्त ऋतु में मध्यम बलवाला होता है।

आयुर्वेद ग्रन्थों में सभी ऋतुओं में शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिए निश्चित आहार-विहार, रहन-सहन के निर्देश दिये गए हैं। यहाँ उन निर्देशों को क्रमश छः ऋतुओं के अनुसार वर्णन किया जा रहा है-

Scanned with CamScanner

6.3.1 हेमन्त ऋतुचर्या- Regimen of Winter Season

हेमन्त ऋतु में क्या आहार और विहार हो इसको स्पष्ट निर्देश चरक प्रभृति आयुर्वेदाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है। हेमन्त ऋतु मार्गशीर्ष और पौष दो मासों के संयोग से पूर्ण होता है। यहाँ ऋतु का विभाजन मास की दृष्टि से किया गया है, क्योंकि मार्गशीर्ष को श्रेष्ठ मास माना जाता है, अतः हेमन्त ऋतु से आरम्भ करते हैं।

हेमन्त ऋतु में शरीर पर शीत ऋतु के कारण त्वचा संकुचित हो जाती है, जिससे शरीर की गर्मी या उष्मा बाहर नहीं निकल पाती है, जो प्रबल जठराग्नि का रूप ले लेती है। जठराग्नि के प्रबल होने से शरीर के भोजन का पाचन सुगमता से हो जाता है। इस प्रबल जठराग्नि को वायु का साथ मिलने से यह और अधिक प्रबल हो जाती है। इसे पर्याप्त भोजन रूपी ईंधन प्राप्त न होने की दृष्टि से यह कुपित होकर शरीर में स्थित रस धातु का नाश करके वायु प्रकोप का कारण बन जाती है।

हेमन्त ऋतु में रात्रियाँ लम्बी होती है, अतः प्रातः काल भूख लग जाती है, किन्तु अपनी दिनचर्या पूर्ण किए या स्नानादि किए हुए ही भोजन को ग्रहण नहीं करने से यह विकार रूप हो जाती है।

(i) हेमन्त ऋतु में आहारः- हेमन्त ऋतु में स्निग्ध (घृत, तैल, वसादि से युक्त), अम्ल तथा लवण रस से युक्त भोज्य पदार्थ, औदक अर्थात् जलीय जीव मछली, कछुआ आदि का भूना हुआ मांस का सेवन करे। जो शाकाहारी है, वह गेहूँ, उड़द, गुड़ आदि से बने स्निग्ध पदार्थों का सेवन करे। माँसाहारी व्यक्ति विलेशय, प्रसह, पशु-पक्षियों का माँस, मदिरा, गन्ने के रस की मदिरा, मधु का सेवन कर सकते हैं। शाकाहारी व्यक्ति दूध एवं उससे बनने वाली चीजें पनीर इत्यादि, चीनी, गुड़, खांड, वसा, तैल, नये चावल, शहद दलिया, हलवा, रबड़ी मलाई इत्यादि पदार्थों के साथ गर्म पानी का सेवन करता है, उसकी आयु बढ़ जाती है। हेमन्त ऋतु में मौसमी फल, मौसमी सब्जियाँ, गर्म पेय पदार्थ स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होते हैं।

(ii) हेमन्त ऋतु में पथ्य (सेवनीय) विहारः- किसी को ऋतु में व्यक्ति को अपनी दिनचर्या के अनुसार ही कर्म करना चाहिए, किन्तु उस ऋतु के अनुसार अपने कामों में कुशलता भी लाई जा सकती है। हेमन्त ऋतु में शीत का

Scanned with CamScanner

प्रकोप होता है, इसलिए शरीर पर तेल मालिश, स्निग्ध पदार्थों से उबटन, सिर में तेल लगाना, धूप का सेवन, गर्म शयन कक्ष में निवास इत्यादि कार्य करने चाहिए।

सर्दियों में वाहन, शयन कक्ष, बैठने का स्थान सभी ओर से ढका और गर्म होना चाहिए। शैय्या आदि पर ओढ़ने के लिए कम्बल, रजाई इत्यादि वस्त्र, चादर बिछे होने चाहिए। भारी और गर्म वस्त्रों कों पहनना चाहिए। अगुरु, चन्दन इत्यादि का गाढ़ा लेप लगाना चाहिए। आयुर्वेद इस काल में मैथुन कार्य करने लिए भी निर्देश करता है, किन्तु उसका निर्देश भी यह है कि केवल अपनी यौवन पत्नी के साथ ही कामक्रीड़ा से तृप्त होकर शयन करे। मर्यादित जीवन ही श्रेष्ठ है।

(iii) हेमन्त ऋतु में अपथ्य (व्याज्य) आहार-विहार:- शीत ऋतु में हल्के, रुखे, वातवर्धक, पदार्थो, कटु, तिक्त, कषाय, ठंडा जल-चीनी मिला हुआ सत्तू, ठण्डी हवा के सामने रहना आदि, वर्जित कहा जाता है। यह शरीर के लिए हानिकारक है। इनका सेवन रोग से ग्रसित कर सकता है और व्यक्ति को अस्पताल के दर्शन करवा सकता है।

6.3.2 शिशिर ऋतुचर्या (Regimen of Dewy Season)

चरक के मतानुसार हेमन्त और शिशिर ऋतु का प्रभाव प्राय: समान ही पड़ता है। अत: शिशिर ऋतु में हेमन्त ऋतु के कुछ आहार और विहारों का ही अन्तर होता है, किन्तु इस ऋतु में सूर्य उत्तरायण की ओर अग्रसर होता है और आदानकालीन रुक्षता, मेघ, वायु तथा अधिक वर्षा सर्दी की वृद्धि कर देती है।

(i) शिशिर ऋतु पथ्य आहार-विहार:- आदान काल होने से शरीर कफ से ग्रसित हो सकता है। अत: हेमन्त ऋतु के आहार दूध, पनीर, रेबड़ी, मलाई, गुड़, खांड, चीनी, उड़द की दाल इत्यादि की आहार रूप में सेवन करते हुए गर्म पानी पीना चाहिए, क्योंकि शिशिर ऋतु में अधिक सर्दी होती है। विशेषत: गर्म कक्ष में ही शयन करना चाहिए। अपने आप को सर्दी से बचाने के सभी उपायों को अपनाना चाहिए।

(ii) शिशिर ऋतु में अपथ्य अहार-विहार:- आयुर्वेद मतानुसार भोजन में कटु सौंठ, काली मिर्च, लाल मिर्च, पिप्पली, तिक्त करेलादि, कसैले, वात कारक, लघु, सत्तू, शरबत आदि अन्नपानों को त्याग देना चाहिए। यह सभी द्रव्य

Scanned with CamScanner

पदार्थ शरीर को हानि पहुँचा सकते हैं। अन्य शेष हेमन्त ऋतु के अनुसार ही अपथ्य आहार विहार का ध्यान रखना चाहिए।

6.3.3 वसन्त ऋतुचर्या (Regimen of Spring Season)

चैत्र और वैशाख मास वसन्त ऋतु का होता है। वसन्त को सभी ऋतुओं में सुहावना माना जाता है। यह आदान काल का मध्य भाग है। इसलिए सूर्य की तपिश हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में इकट्ठा हुए कफ को पिघला कर प्रबल जठराग्नि को दूषित कर देती है, जिसके कारण उदर सम्बद्ध रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। आयुर्वेद के अनुसार कफ को निकालने के लिए पञ्चकर्म में कथित वमन कर्म को करवाना चाहिए। इससे शरीरस्थ कफ बाहर निकल जाता है।

(i) वसन्त ऋतु में पथ्य आहार-विहार:- वसन्त ऋतु में न अधिक सर्दी का अनुभव होता है, न अधिक गर्मी का। इसलिए वसन्त ऋतु व्यायाम, उबटन, धूमपान, कवल, अञ्जन, गुन-गुने पानी से स्नानादि नित्य दिनचर्या को करना चाहिए। यह शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक है। लेप के लिए सुगंधित अगुरु, चन्दनादि पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। पुराने जौ, गेहूँ, चना, चावल, अकुंप्ति अनाज आदि मौसमी तरकारी करेला, लहासुन, मौसमी फल, शहदादि का सेवन लाभप्रद होता है। माँसाहारी प्रवृत्ति के लोगों को शरभ, तीतर-बटेर, शराबादि, माहवीक इत्यादि का सेवन करना चाहिए। वसन्त ऋतु सुहावना होता है, अत: यह ऋतु भ्रमण के लिए उत्तम होती है, अत: पुष्पित और पुष्पित उद्यानों का भ्रमण और मर्यादित सहवास करना चाहिए।

(ii) वसन्त ऋतु में अपथ्य आहार-विहार:- वसन्त ऋतु कफ की प्रबलता को बढ़ा देता है, अत: वसन्त ऋतु में कफ का वर्धन करने वाले भोज्य पदार्थ अर्थात् देर से पचने वाले, अम्ल रस युक्त, घी, तैल, वसा आदि से निर्मित पदार्थ, उड़द की दाल, मलाई, रबड़ी जैसे मीठे पदार्थों का सेवन त्याज्य होता है। दिन में सोना कफ की वृद्धि ही करता है, इसलिए इसका भी त्याग करना चाहिए।

6.3.4 ग्रीष्म ऋतुचर्या (Regimen of Summer Season)

ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ और आषाढ़ मास तक प्रचण्ड अवस्था में होती है। यह आदान काल का मध्य समय होता है, जब सूर्य अपनी प्रचंड किरणों से पृथ्वी और मनुष्य के स्नेह का शोषण करता है, जिससे मनुष्यों में अत्यधिक दुर्बलता

Scanned with CamScanner

और बैचैनी हो जाती है। हर समय केवल गर्मी का ही अनुभव होता है। इस समय किसी भी कार्य को करने से शक्ति क्षीण हो जाती है।

(i) ग्रीष्म ऋतु में पथ्य आहार-विहार:- दुर्बलता और बेचैनी को दूर करने के लिए स्निग्ध और मीठे आहारों का सेवन लाभकारी होता है, किन्तु दुर्बलता के लिए हल्के और तरल पदार्थों का सेवन ही श्रेयस्कर होता है। ग्रीष्म ऋतु में मधुर रस युक्त, शीतल द्रव्य शरबत जूस चीनी मिला हुआ तथा पानी में घुला सत्तू, कच्चे आम का पानी, तैल आदि से बने पकवान का सेवन हितकारी होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में स्नान करना भी लाभकारी होता है। वह आपके शरीर के ताप को कम कर देता है। घी, दूध और शालि चावलों के भात या चावल को खाने से ऋतु सम्बन्धी विकार पीड़ित नहीं करते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में दिन के समय किसी शीतल गृह में या आजकल की तरह वातानुकूलित कक्ष में और रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से ठण्डे तथा खुली हवा से युक्त मकान की छत पर चन्दनादि सुगंधित पदार्थों से शरीर का लेप करके शयन करना चाहिए। यह शरीर के ताप को कम करने में सहायक है। पुराने समय में बिजली के अभाव में ताड़ के पंखों, या चंवर से हवा की जाती थी, किन्तु आज विद्युत के युग में पंखे या वातानूकुलित यन्त्र इसकी कमी पूरी कर देते हैं। ग्रीष्म काल में वन या बगीचे में शीतल वृक्षों की छाया में बैठकर सुशीतल फल और फूलों का आनन्द मध्य दोपहर में लेना चाहिए। मौसमी फलों और सब्जियों का ही सेवन करे। तले-भुने पदार्थों का त्याग करें।

(ii) ग्रीष्म ऋतु में अपथ्य आहार-विहार:- ग्रीष्म ऋतु आदानकाल का प्रचंड स्तर होता है। सूर्य की गर्मी अपने चरम पर होती है और मानव शरीर अत्यन्त दुर्बल होता है। अत: इस समय मद्य पीने के अभ्यासी व्यक्ति को भी मद्य का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा करने में असमर्थ है, तो थोड़ा या बहुत पानी मिलाकर कर अल्प मात्रा में ले। ग्रीष्म ऋतु में मद्यपान शरीर का शोथ, शिथिलता, दाह और मोह करता है।

ग्रीष्म ऋतु में नमक, कटु तथा अम्ल रस का सेवन, व्यायामादि क्रियादि और सूर्य की किरणों का त्याग करना चाहिए। यह आपके शरीर में पित्तदोष की वृद्धि और बल की हानि करता है। अत्यधिक गर्म पदार्थों का सेवन भी वर्जित है। धूप में बचकर या छाता लेकर निकलना चाहिए।

Scanned with CamScanner

6.3.5. वर्षा ऋतुचर्या (Regiman of Rainy Season)

वर्षा ऋतु श्रावण और भाद्रपद दो मास का होता है। वर्षा ऋतु में सूर्य दक्षिणायन की ओर अग्रसर होता है, किन्तु आदानकाल में मनुष्य के शरीर से स्नेह और रस का जो शोषण हुआ था, उससे उसका शरीर क्षीण हो चुका है और उसकी जठराग्नि अत्यन्त दुर्बल हो जाती है। वह दुर्बल जठराग्नि वर्षा ऋतु के आने से वायु या वातादि के दोष के कारण पित्त और कफ दोष भी प्रकुपित हो जाते हैं। जिससे जठराग्नि अत्यधिक दूषित होकर शरीर में वेदना, दाह, थकावट और कमजोरी को उत्पन्न कर देता है।

वर्षा ऋतु में तप्त भूमि पर वर्षा की बूंदे पड़ने से वाष्प निकलती है, वह दोषों को उत्पन्न करने में सहायक होती है। इस कारण बारिश में मनुष्यों का स्वास्थ्य अन्य मौसमों या ऋतुओं की अपेक्षा अधिक अनियमित होता है। वर्षा ऋतु में हर जगह पानी ही पानी हो जाती है, जो रोग उत्पन्न कर सकता है, अत: इन सभी से बचना चाहिए और वे सभी विधियाँ जिन्हें इनसे बचाव हो, वे सभी क्रियायें करनी चाहिए।

(i) वर्षा ऋतु में पथ्य (प्रशस्त) आहार-विहार:- वर्षा ऋतु मानव शरीर के लिए अनियमिताओं से भरा रहता है, अत: इस समय खाने-पीने की सभी चीजों में यथोचित रूप में शहद का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। क्योंकि मधु या शहद उत्तम योग वाही होती है। वर्षा ऋतु में हल्के, सुपाच्य, गर्म, नमकीन और स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में जठराग्नि प्राय: प्रकुपित रहती है, अत: उसकी रक्षा करने के लिए पुराने जौ, गेहूँ, शालि चावलों, मूंग की दाल, अम्ल, लवण इत्यादि का भोजन में प्रयोग करें। माँसाहारी लोग माँस प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु शास्त्रोक्त विधि से पकाये हुए मांस का प्रयोग करना चाहिए। वर्षा ऋतु में शहद के साथ जल को पीना चाहिए। शुद्धि का ध्यान रखते हुए स्वच्छ जल को ही पीये, जल को गर्म करके ठंडा करके ही पीये, क्योंकि अशुद्ध पानी कई रोगों की उत्पत्ति को न्योता दे देता है।

वर्षा में ऋतु में नंगे पैर न चले, किसी सवारी से यात्रा करें, प्रतिदिन स्वच्छ कपड़ों को पहने। मकान या घर में जहाँ वाष्प, शीत, आदि न हो, वहाँ ही निवास करें। स्नानादि में मोटे तोलिये का इस्तेमाल करें, शरीर को स्निग्ध औषधियों

Scanned with CamScanner

युक्त चूर्ण से मल कर उबटन आदि लगाकर स्नान करें। हल्के और स्वच्छ कपड़ों को धारण करें। वमन-विरेचन से शरीर का संशोधन करके बस्तिकर्म करवाया जा सकता है।

(ii) वर्षा ऋतु में अपथ्य आहार-विहार:- वर्षा ऋतु में अनियमित वर्षा के कारण नदी, तारावादि का पानी दूषित हो जाता है, इसलिए उस पानी को नहीं पीना चाहिए। शीतल पानी में घोला सत्तू भी कफ की वृद्धि करता है। रात्रि में ओस में सोना हानिकारक हो सकता है। धूप में नमी होने से उसका सेवन भी वर्जित है। दिन में सोना कफ को प्रकुपित करता है। स्त्री सहवास या मैथुन भी वर्षा ऋतु में वर्जित है। शारीरिक व्यायाम भी वर्षा ऋतु में हानिप्रद होती है। वह शरीर के ताप को कम-अधिक कर शारीरिक संतुलन को बिगाड़ सकती है। वर्षा ऋतु में पनपने वाले कीड़ों और मच्छरों के काटने से बचना चाहिए। पैदल चलने से बचना चाहिए।

6.3.6 शरद ऋतुचर्या (Regimen of Beginning of Autumn Season)

शरद् ऋतु अन्तिम और अश्विन और कार्तित मास से युक्त होती है। शरद् ऋतु में पित्त दोष की प्रबलता होती है, क्योंकि वर्षा ऋतु में शरीर सर्दी के अभ्यस्त हो चुकी होती हैं, उसके तुरन्त बाद शरद् कालीन सूर्य की उष्मा मानवीय शरीर में संचित हुए पित्त को पिघला कर प्रकुपित कर देता है, जिससे पित्त दोष शरीर को ग्रसित कर लेता है। इसलिए रोगोत्पत्ति से पूर्व ही पित्त दोष का शमन या शोधन करना चाहिए। पित्त के नाश के लिए विरेचन कर्म सर्वोत्तम माना जाता है।

(i) शरदृतु में पथ्य (प्रशस्त) आहार-विहार:- शरद् ऋतु में भूख लगने पर तिक्त, मधुर, कषाय रस वाले पदार्थों का, शाति चावल, मूंग, चीनी, आँवला, परवल, शहद, जौ, गेहूँ, जल्दी पचने वाले, शीतल तथा प्रकुपित पित्त का शमन करने वाले भोजन ग्रहण करना चाहिए।

वर्षा ऋतु की समाप्ति पर शरद् ऋतु के आगमन पर आयुर्वेद के अनुसार तिक्तक घृत का सेवन, विरेचन कर्म तथा रक्तमोक्षण कर्म को करना हितकारी माना जाता है। पित्त शामक क्रियाओं में विरेचन क्रिया सर्वोत्तम मानी जाती है। यह कार्तिक मास अर्थात् शरद् ऋतु के अन्त में करना श्रेयस्कर होता है। पित्त के

Scanned with CamScanner

कारण रक्त में उष्णता हो जाती है। इसकी शान्ति के लिए रक्तमोक्षण क्रिया लाभप्रद होती है।

वर्षा ऋतु में जल अभिनव होता है, उसमें कई प्रकार के दूषित तत्त्व, कृमि इत्यादि होते है। यह जल शरद् ऋतु के प्रभाव से निर्दोष और अगस्त्य के उदय होने पर निर्विष हो जाता है, दिन में सूर्य की किरणों से तपा हुआ और रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल सुपक्व **हंसोदक** जल निर्मल और पवित्र होता है। इस जल का प्रयोग नहाने, पीने तथा अवगाहन या यात्रा के लिए करना अमृततुल्य माना जाता है।

शरद् ऋतु कालीन सांयकालीन चन्द्रमा की किरणों का सेवन करना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होता हैं। रात्रि में पड़ने वाली ओस हानिकारक होती है। शरद् कालीन उत्पन्न फूलों की माला और निर्मल वस्त्र पहनना इस ऋतु में श्रेयस्कर होता है।

(ii) शरद् ऋतु में अपथ्य आहार-विहार:- शरद् ऋतु में धूप में बैठना, वसा, तैल, औदक, आनूप और पशु पक्षियों का मांस, क्षार, दही, दिन में सोना, पूर्वी हवाओं का सेवन त्याग देना चाहिए। यह शरीर को क्षति पहुँचा सकता है। ओस, पेट भर खाना भी शरद् ऋतु में त्याग देना चाहिए। मद्यपान भी हानिकारक है।

इस प्रकार ऋतु सात्म्य में ऋतु सम्बन्धित पथ्य-अपथ्य, आहार तथा विहार का वर्णन किया गया है। पथ्य और अपथ्य का नियमानुसार सेवन और असेवन सुख की प्राप्ति करवाता है। आयुर्वेद के अनुसार जो ऋतु जिस समय चल रहा हो उसके अन्तिम सप्ताह और आने वाली ऋतु के प्रथम सप्ताह-ये चौदह दिन ऋतु संधि के होते हैं, इनमें पूर्व ऋतु के सेवनीय विधि की धीरे-धीरे त्याग कर आने वाली ऋतु की विधि का क्रमशः सेवन आरम्भ कर देना चाहिए। अचानक छोड़ना रोगोत्पत्ति का कारण बन जाता है और शरीर रोग से ग्रसित हो जाता है।

6.4 तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली

कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा के तैतिरीय आरण्यक में 10 अध्याय हैं। उन दस अध्यायों में से सातवाँ, आठवाँ और नवां अध्याय ही तैत्तिरीयोपनिषद् कहलाता है। यह उपनिषद् तीन वल्लियों में विभक्त है- **शिक्षा वल्ली** जिसके अन्तर्गत शिक्षा से सम्बद्ध ज्ञान का वर्णन किया गया है। शिक्षा वल्ली में अक्षर

Scanned with CamScanner

ज्ञान से लेकर गृहस्थ पालन, अध्यायादि तक की शिक्षा का अत्यन्त उत्कृष्टता से निरूपण किया गया है। शिक्षा विद्वानों के लिए यह विषय अनुकरणीय है। द्वितीय वल्ली **ब्रह्मानन्द** के अन्तर्गत हमारे शरीरस्थ पञ्च कोशों का निरूपण करता है। अन्मयादि पञ्चकोशों के मध्य से कहा गया है कि यह सृष्टि या पुरुष अन्नमयादि पञ्चकोशों से ही निर्मित है, इसी से दृढ़ और ज्ञानवान् होता है। तृतीय वल्ली **भृगुवल्ली** - भृगुवल्ली के अन्तर्गत वरुण अपने पुत्र भृगु को जो उपदेश देते हैं, उसका निरूपण किया गया है। जिस कारण इसे भृगुवल्ली भी कहा जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित पञ्च कोशों का शरीर विज्ञान से सम्बन्ध होने के कारण इसका निरूपण करना अपेक्षित हो जाता है। इन पञ्चमहाकोशों का विशेष महत्त्व है। यह उचित आहार विहार और अभ्यास के द्वारा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर हो जाते है।

(i) अन्नमय कोशः- इससे अभिप्राय है, जो शरीर में स्थित होकर अन्नादि सेवनीय पदार्थों से शरीर को शक्ति और स्वास्थ्य प्रदान करता है। उचित आहार-विहार इसे स्वस्थ और अपथ्य आहार विहार इसे रोग ग्रसित कर देता है।

(ii) प्राणमय कोशः- शरीर की शक्ति और ऊर्जा का केन्द्र स्वरूप यह प्राणमय कोश है। जो शरीर के सेवनीय भोज्य पदार्थों को उर्जा और शक्ति में बदलकर शरीर को पालन-पोषण देता है।

(iii) मनोमय कोशः- शरीर में स्थित सभी कर्मेन्द्रियाँ जो शरीर को नियन्त्रित कर उसके संयमी दिनचर्या को उत्प्रेरित करती हैं। अनियन्त्रित मनोमय कोश व्यक्ति के मद्यपान करने वाला और दुराचारी बना सकता है। मन की शक्तियाँ अन्नत हैं, उसकी चंचलता ही सभी दुःखों का कारण बनती है। ध्यान आदि अभ्यास और सात्विक औषधि के द्वारा इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(iv) विज्ञानमय कोशः- जिसके अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचा बुद्धि और चित् आते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ही स्वास्थ मनुष्य के जीवन का आधार है। इनको स्वस्थ कर मनुष्य क्रियाशीलता के द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति भी कर सकता है।

(v) आनन्दमय कोशः- इसके अन्तर्गत प्रीति, प्रसन्नता, आनन्द इत्यादि की प्राप्ति करता है। मनुष्य जब खुश होता है, वह आनन्दमय कोश की प्राप्ति

Scanned with CamScanner

होती है। अच्छा खाना, घूमना, अच्छा कार्य करने पर जो प्रसन्नता है, वह इसी की ओर इंगित करती है।

व्यक्ति इन कोशों का ज्ञान प्राप्त करके इनको स्वस्थ रखकर शारीरिक और मानसिक विकारों को नष्ट कर परमानन्द की प्राप्ति कर सकता है।

1. अन्न का महत्त्वः- यह सर्वविदित है कि इस स्थूल भूत मानव शरीर की रचना पञ्चमहाभूत से उत्पन्न हुआ है। पृथ्वी पर उत्पन्न सभी में इनका अंश विद्यमान होता है। उसी ब्रह्म से यह आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य से यह पुरुष अर्थात् यह स्थूलभूत शरीर का निर्माण होता है। यह कथन तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार कही गयी है- **'अन्नं ब्रह्मेति व्याणानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।'** अर्थात् अन्न ही ब्रह्मस्वरूप यह जानकर निश्चय ही यह सम्पूर्ण भूत जगत् उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर इसी अन्न का भक्षण करके जीवित रहते हैं तथा प्रयाण काल में इसी अन्न में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् यह शरीर पुनः पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत में विलीन हो जाता है। इसी कारण अन्न श्रेष्ठ है। अन्न से अन्नमय कोश क निर्माण होता है, जिसका सम्बन्ध पृथ्वी महाभूत से होना है क्योंकि पृथ्वी से ही अन्न की उत्पत्ति होती है एवं इसी अन्न से इस स्थूल शरीर का निर्माण होता है। शरीर के स्वस्थ और निरोगी रहने में इस अन्न का ही हाथ होता है। यदि पथ्य अन्न का सेवन किया जाए, तो स्वस्थ शरीर रहेगा और यदि अपथ्य अग्न का भक्षण करते हैं, तो शरीर अस्वस्थ हो जाता है। अतः उचित आहार-विहार, पञ्चकर्मादि का समुचित प्रयोग, ओषधियों के अभ्यास से इस अन्नमय शरीर को सुदृढ़ और निरोगी रखना चाहिए।

इस तैत्तिरीयोपनिषद् में उपदेशित वारुणी विद्या का सार यही है कि जो इस परम आकाश में स्थित ईश्वर या ब्रह्म है। उसे जानकर व्यक्ति ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अन्न से युक्त होकर और अन्न का भक्षण करने वाला हो जाता है। वह व्यक्ति प्रजा, पशु और ब्रह्म की शक्ति तेज के कारण महान् बन जाता है। इसलिए **'अन्नं न निन्द्यात्'** अर्थात् उस अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह ब्रह्म को जानने का मार्ग है। अन्न की स्तुति के कारण पृथ्वी हमें अन्न देती है। यह शरीर अन्न का भण्डार करती है और शरीर अन्न से प्रतिष्ठित हो

Scanned with CamScanner

जाती है। जो यह करता है, वही अन्न से युक्त होकर अन्न का भक्षण करने का अधिकारी हो सकता है।

'अन्नं व परिचक्षीत' अर्थात् अन्न का परित्याग कभी न करें। यह शास्त्रों में उपदिष्ट है। क्योंकि जल के द्वारा ही अन्न उत्पन्न होता है। जल में तेज है। इसलिए जल ही अन्न स्वरूप और उसका तेज या उसकी ज्योति अन्न का भक्षण करने वाला है। जो इस प्रकार जानता है, वह उसके रूप वाला अन्नवान् हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि अत्याज्य अन्न ही स्तुति और महिमा के योग्य होता है, क्योंकि विना अन्न का भक्षण किए शरीर की वृद्धि सम्भव नहीं हैं।

तैतिरीयोपनिषद् में स्पष्टत: कहा गया है कि **'अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्'** अर्थात् अन्न की वृद्धि करे या उत्पत्ति करे। यह उपदिष्ट व्रत है। इसका पालन करना चाहिए। यहाँ कहा गया है कि यह पृथ्वी ही अन्न स्वरूप है और आकाश अन्न का भोक्ता है, क्योंकि पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। अत: ये दोनों महाभूत अन्न ही अन्न में ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार जो अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है, वह उसको प्राप्त करके अन्नवान् और अन्न का भक्षण करने वाला हो जाता है। वह महान् बन जाता है, क्योंकि वह अन्न की महत्ता को जानता है।

इस अन्न की महिमा और महत्ता को जानकर अपने गृह आये किसी भी अतिथि का अनादर से नहीं आदर के साथ अन्न का भोजन कराना चाहिए। यह शास्त्रों में उपदिष्ट है कि जो जिस भाव से अतिथि को भोजन कराता है, वह उसी भाव को प्राप्त कर अन्न की प्राप्ति और भक्षण करता है। यहाँ अन्न दान का माहात्म्य बताया गया है। गृहस्थ व्यक्ति को अपने घर आये किसी भी अन्य का अनादर नहीं करना चाहिए। यह अन्न का अनादर ही होता है। यह अन्न ही शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण भूत है। इसकी स्तुति और उपासना करनी चाहिए। जो ऐसा करता है वह सदैव निरोगी रहता हुआ महान् हो जाता है।

2. प्राण का महत्त्व:- जिस प्रकार मानव शरीर अन्न से उत्पन्न होकर अन्न के भक्षण से अपने को पुष्ट करता है, उसी प्रकार प्राण भी मानव शरीर का सूक्ष्म अदृश्य महत्त्वपूर्ण तत्व है। अन्न प्रत्यक्ष रूप में शरीर को पुष्ट और जीवित रखता है, किन्तु प्राण शरीर को अदृश्य रूप में शरीर की स्थिति को बनाये रखता है। यह सम्पूर्ण शरीर इसी प्राण के रहने पर चलायमान और क्रियाशील होकर अन्न की

Scanned with CamScanner

वृद्धि और अन्न का भक्षण करता है। इस प्राण शक्ति के चले जाने पर यह शरीर निर्जीव वस्तु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।

स्थूल शरीर में जीवन स्वरूप यह प्राणप्रवाह अदृश्य रूप में प्राणमय कोश में स्थित है। इस पूरे शरीर की ऊर्जा का स्रोत यही प्राण है, जिस प्रकार यह सूर्य पृथ्वी का ऊर्जा स्रोत है। पञ्चमहाभूत में परिगणित यह वायु महाभूत ही हमारे शरीर में प्राण रूप में विद्यमान रहता है। यह सभी स्थानों पर व्याप्त है और सभी शरीरों को प्राण रूप में जीवित रखता है, किन्तु अन्न भूतों में ज्येष्ठ है। यह प्राण अन्न से ही पूर्ण होता है। प्राण के अधीन ही ये सभी क्रियायें मनुष्य एवं पशु में समान होती है। **प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति।** अर्थात् प्राण ही मनुष्य या प्राणियों की आयु है। इसी कारण वह आयुष कहलाता है। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसलिए वह सर्वगुण कहलाता है। यह उस अन्नमय कोष की आत्मा या प्राण है।

इस प्राण रूपी वायु के पाँच घटक या भेद हैं -

1. प्राणः- देहगत स्थित यह प्राण वायु शुद्ध हवा शरीर में प्रवेश कराकर जठराग्नि को श्वास-प्रश्वास के द्वारा गति प्रदान करती है।

2. अपानः- अपान नामक वायु शरीर में शुक्र धातु और मल-मूत्र इत्यादि मलों का धारण और विसर्जन कराता है, जिससे शरीर की शुद्धि हो सके और शरीर निरन्तर क्रियाशील बना रहे। यह आँतों में कार्य करता है।

3. समान वायुः- समान वायु शरीर में अन्न का जल, रस, रक्त आदि धातुओं के साथ संयोग करा शरीर में ऊर्जा व्याप्त कराता हैं।

4. उदान वायुः- उदान वायु हृदय से कार्य करवाता है। रात्रि में सोने पर प्राणि जो सुख-और दुःख की प्राप्ति या अनुभव करते हैं, यह इसी के कारण सम्भव होता है। क्योंकि इस समय मन निष्क्रिय होता है।

5. व्यान वायुः- यह वायु शरीर में व्याप्त होकर सभी चेष्टा आदि कार्यों को सञ्चालित करता है और सारे शरीर में रसधातु का प्रसारण करता है।

प्राण शक्ति के कारण ही शरीर में गति उत्पन्न होती है। ये सभी इन्द्रियाँ इसी प्राण के आश्रित होती है। प्राण और अन्न स्वरूपतः भिन्न हो सकते हैं, किन्तु तत्त्वतः वह एक ही है। जिस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार **प्राणाद्ह्येव**

Scanned with CamScanner

खलिवमनि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। अर्थात् प्राण से ही सबकुछ उत्पन्न होता है, उसी के कारण जीवित रहते हैं और अन्तकाल में प्राण में ही विलीन हो जाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् स्पष्ट कहा गया है कि **'प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एत दन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति। अन्नवानन्नादो भवति'** अर्थात् प्राण ही अन्न स्वरूप है और शरीर अन्न खाता है। प्राण शरीर में स्थित है और शरीर में प्राण स्थित है। इस प्रकार अन्न अन्न में स्थित है, जो इस प्रकार अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित मानता है, वह अन्न से युक्त और अन्न खाकर महान् हो जाता है।

इस प्रकार यह विदित होता है कि अन्न खाकर ही शरीर प्राणवान् बनता है और प्राणवान् शरीर ही अन्न की वृद्धि या भक्षण कर सकता है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है।

6.5 पथ्य आहार सम्बद्ध तथ्य

मानव शरीर के लिए आहार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु क्या आहार खाये, कब खाये, किस प्रकार खाये और किन परिस्थितियों में आहार का सेवन करे? ये सभी आहार सम्बद्ध तथ्य हमारे आयुर्वेद में विस्तृत रूप में परिगणित किए गए हैं, किन्तु हम यहाँ उस विस्तार की अपेक्षा संक्षेप में उन तथ्यों का चिन्तन करते हैं-

(i) स्निग्ध भोजनः- आयुर्वेद मतानुसार पथ्य आहार में स्निग्ध द्रव्य अर्थात् घृत, तेल आदि से बने भोज्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए। उचित्त मात्रा में नियमित घृत या तैल आदि के प्रयोग से हृदय, मोटापा और अन्य विकार कम होते हैं, क्योंकि जठराग्नि की तीव्रता आपके आहार को सुगमता से पचा देती है और सही पाचन से सही ऊर्जा आपके शरीर को बलशाली और स्वस्थ रखती है। स्निग्ध पदार्थ का सेवन त्रिदोष का नाश भी करता है।

(ii) गर्म और ताजा आहारः- आयुर्वेद सदैव ताजा और गर्म आहार सेवन पर बल देता है, क्योंकि ताजा आहार और औषधि हितकर होती है। वह शीघ्रता से पच जाता है। फ्रिज आदि में रखा समान या बासी भोजन अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति को न्योता देने के समान है। आयुर्वेद सदैव प्राकृतिक अन्न, गर्म भोजन

Scanned with CamScanner

इत्यादि सेवनीय पदार्थों को खाने के लिए कहता है, जो स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होते हैं।

(iii) शरीर की स्थिति:- आहार सेवन ही एक ऐसी प्रक्रिया है, जब इसे शान्तचित्त और प्रसन्नता के साथ ग्रहण किया जाता है। भोजन करने से पूर्व व्यक्ति को अपने हाथ और पैर धोकर भूमि पर आसन लगाकर बैठना चाहिए। भोजन जल्दी में, गुस्से, डर, अनिच्छा के साथ नहीं करना चाहिए। यह आहार सेवन शरीर को क्षति पहुँचा सकता है, क्योंकि विना प्रसन्नता और मौन-शान्ति के भोजन में क्या और कितना खाना है, का ध्यान नहीं रह जाता है, जो शरीर को नुकसान दे सकता है।

(iv) आहार मात्रा:- शरीर को पूर्ण रूप से संतुलित भोजन की आवश्यकता होती है। हर व्यक्ति की आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं। किसी प्रवृत्ति के व्यक्ति को किसी पोषक तत्व की आवश्यकता अधिक है, किसकी कम? यह आहार मात्रा व्यक्ति को अपनी प्रवृत्ति, जठराग्नि की स्थिति पोषक तत्वों की आवश्यकता के अनुसार चयनित करनी चाहिए। आहार सेवन के उपरान्त व्यक्ति की स्थिति सदैव हल्की, उठने-बैठने में कठिनाई न होना, भूख-प्यास की तृप्तता इत्यादि स्थिति में है, तो उत्तम है। आहार देह की अनुकूलता, देश, ऋतु और रोग की अनुकूलता के अनुसार ग्रहण करना चाहिए।

(v) आहार समय:- व्यक्ति को समयानुसार ही भोजन करना चाहिए। यह स्वास्थ्य के लिए उत्तम होता है। आहार सेवन का नियत समय होने से उसे किसी प्रकार के रोग नहीं होते हैं। भोजन सदैव भूख लगने पर ही करना चाहिए, जब पहले किए गए भोजन का अंश जीर्ण या पच गया हो। पेट में किसी भी प्रकार का दर्द या भारीपन नहीं होना चाहिए।

समय पर भोजन न करने से पित्त दोष प्रकुपित हो जाता है और नियत समय के पश्चात् भोजन करने से वात दोष प्रकुपित हो जाता है। इससे शरीर में कमजोरी, दर्द थकावट, वर्ण में विकार इत्यादि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार पथ्य और नियत आहार सेवन करने से व्यक्ति रोग ग्रसित नहीं होता है, यदि हो जाए तो स्थिति के अनुसार परहेज करने पर स्वत: स्वस्थ हो जाता है। यदि व्यक्ति रोगी है और औषधि का सेवन भी कर रहा है, किन्तु पथ्य का अपथ्य का ध्यान नहीं रखता है, तो वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता है। मात्रा,

Scanned with CamScanner

देश, आयु, ऋतु आदि का विचार करके पथ्य आहार सेवन हितकारी होता है, क्योंकि शरीर अन्नमय है।

6.6 अपथ्य आहार सम्बद्ध तथ्य

जिस प्रकार पथ्य आहार का सेवन मानव शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा करने में अहम भूमिका निभाता है, उसी प्रकार अपथ्य आहार का सेवन मानव शरीर के स्वास्थ्य को दूषित कर संक्रमित कर देता है। इसलिए व्यक्ति को सदैव पथ्य और अपथ्य आहारों का ज्ञान होना चाहिए। जिससे वह अपनी शरीर की रक्षा कर सकेगा। कई बार परिस्थिति के कारण कोई पथ्य आहार अपथ्य की श्रेणी में, ऋतु आदि के कारण अपथ्य आहार पथ्य की श्रेणी में आ जाता है, अतः व्यक्ति को चाहिए कि इन तथ्यों का ध्यान रखे इनके प्रभावित करते हैं। यह अनेक हैं। इनका निरूपण किया जा रहा है-

(i) स्थान की दृष्टि से कई बार नमी प्रधान स्थानों पर नमी वाले पदार्थ, स्निग्ध, शीतल एवं शीत गुण वाले पदार्थों का सेवन हानिकारक होता है।

(ii) ऋतुओं के अनुसार अपथ्य पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। जैसे हेमन्त ऋतु में शीतल, रूखे रस प्रधान पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

(iii) व्यक्ति को अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार अपथ्य का सेवन नहीं करना चाहिए। मन्द जठराग्नि वाले व्यक्ति को भारी, ठण्डे और मीठे भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

(iv) कुछ पदार्थों को साथ खाना हानिकारक होता है। इस प्रकार के अपथ्य सेवन से बचना चाहिए। जैसे दूध और मट्ठा, दही आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।

(v) सात्म्य की दृष्टि से जिसे जो पदार्थ अनुकूल लगता है, वह उसी का सेवन करता है, किन्तु कई अनुकूल के इतर भोजन अपथ्य हो जाता है। जैसे चावल खाने वाला व्यक्ति को रोटी इत्यादि दी जाए।

(vi) कतिपय स्थलों पर पथ्य और अपथ्य पदार्थों का एक साथ सेवन हानिकारक सिद्ध होता है। पथ्यापथ्य संयोग के कतिपय दृष्यन्त इस प्रकार हैं-

- दूध के साथ- दही, नमक, इमली, नारियल, नींबू, जामुन, अनार, आँवला, गुड़, तिलकुट, उड़द, मोठ, सत्तू मछली आदि अपथ्य होते हैं।

Scanned with CamScanner

- दही के साथ- खीर, दूध, पनीर, गर्म द्रव्य, खीरा, खरबूजा अपथ्य है।
- शहद के साथ- मकोय, घी, वर्षा का पानी, अंगूर, मूली, गर्म दूध, अपथ्य है।
- घी के साथ- समान मात्रा में शहद, शीतल जल अपथ्य आहार है।
- उड़द की दाल के साथ- मूल अपथ्य है।

अपथ्य आहार का सेवन करने से पेट दर्द, उदर रोग, दुर्बलता, हैजा, सूजन, मूर्च्छा, कुष्ठ, पीनस, अन्धापन इत्यादि रोग हो सकते हैं। यह अत्यधिक गम्भीर होने पर मृत्यु का भी कारण बन सकती है।

वमन विरेचन सदृश पञ्चकर्म के द्वारा इन लोगों का शोधन हो सकता है। अपथ्य आहार के सेवन को छोड़कर पथ्य आहार का सेवन करना चाहिए।

कतिपय खाद्य पदार्थों का हितकारी संयोग शरीर के लिए फायदेमंद होता है। जिन्हें मिलाकर खाने से में अत्यधिक लाभकारी होते हैं-

उड़द के साथ खांड, चना और मूली, आहार और कांजी, मक्का और अजवाइन, खिचड़ी और सेंधानमक, दूध और मूंग का सूप, आम और दूध, अदरक और गन्ना इत्यादि पथ्य आहार हैं। ये मिलकर सेवन करने पर अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होते हैं।

6.7 माँ और शिशु के स्वास्थ्य हेतु निर्देश

आयुर्वेद में गर्भिणी स्त्री, माँ और उसके नवजात शिशुओं के उत्तम स्वास्थ्य के लिए कई प्रकार की व्यवस्थाएं की गई हैं, जिससे कि उन्हें किसी प्रकार की हानि न हो, क्योंकि भारतीय संस्कृति में **'यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता'** की युक्ति पर विश्वास किया जाता है। अतः नारी सदैव आदरणीया है और सदैव रहेगी।

माँ का उसके बच्चे के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव होता है। इसलिए गर्वास्था में प्रथम मास से लेकर प्रसव-पर्यन्त गर्भिणी के लिए उचित और उपयुक्त दिनचर्या, आहार-विहार का विधान किया गया है। गर्भाधान के समय से ही बच्चा व्यक्तिगत और अतिविशिष्ट हो जाता है। माता और पिता गर्भाधान से पूर्व ही शिशु के स्वास्थ्य और शेष जीवन स्वस्थ रहे, इन्हीं प्रयत्न में लगे रहते हैं। क्योंकि माता जो कुछ भी खाती है वह शिशु को उस समय और आगे भविष्य में

Scanned with CamScanner

शरद् ऋतु में उत्पन्न फूलों की माला, स्वच्छ कपड़े और रात्रि के प्रथम प्रहर (प्रदोष काल) में चन्द्रमा की किरणों का सेवन करना स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होता है।

ओकसात्म्य (Acquired Homologation)

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाहाख्यपाश्रयम्। उपशेते यदौ चित्यादोकः सात्म्यं तदुच्यते।।49।।

इस प्रकार विहार और आहार से सम्बद्ध ऋतुसात्म्य का वर्णन किया गया है। जो आहार और विहार उचित होने से शरीर को सुख देता है, वह ओकसात्म्य कहलाता है। इसलिए अब ओकसात्म्य का निरूपण किया जायेगा।

देशानामायानां च विपरीतगुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च।।50।।

सात्म्य को जाननेवाले विद्वान् देश और रोगों के गुणों से विपरीत और विपरीत अर्थ को करने वाला सभी विहार और आहार आदि उन-उन देशों और रोगों के लिए सात्म्य की परिभाषा को (अग्निवेश) कहते हैं।

विशेषः- चरक संहिता में सात्म्य के चार भेदों का उल्लेख किया गया है-

1. ऋतु सात्म्य, 2. ओक सात्म्य, 3. देश सात्म्य और रोग सात्म्य। ये चारों सात्म्य उत्तरोत्तर अधिक बलवान् होते हैं।

ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यच्च किञ्चन। तस्याशितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च।।51।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के तस्याशितीयो नाम षष्ठोऽध्यायः।।6।।

जो आहार-विहार जिस ऋतु में मनुष्यों के द्वारा सेवनीय है, और जो सेवन के योग्य नहीं है, उसका तस्याशितीय षष्ठ अध्याय में सकारण निर्देश किया गया है और अध्याय के अन्त में सात्म्य का वर्णन भी किया गया है।

9.2. तैत्तिरीयोपनिषद् (भृगुवल्ली)

वेद सभी विद्याओं का स्रोत है। इस विचार धारा या सत्य में किसी विद्वान् को भी कोई संशय नहीं है, किन्तु वैदिक विचार किसी भी समस्या का उत्तर

Scanned with CamScanner

प्रत्यक्ष रूप से न देकर परोक्ष रूप से देता है। उपनिषद् भी उसी विचारधारा से पल्लवित और विकसित हुआ है। उपनिषद् ग्रन्थों में गुरू शिष्य प्रणाली के माध्यम से ज्ञान अथवा विषय की शिक्षा दी जाती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण तैत्तिरीयोपनिषद् है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में वरुण के द्वारा अपने पुत्र भृगु को दिये उपदेशों का वर्णन है, अतएव इस उपनिषद के प्रकरणों के नाम उपदेशों के विषय और वरुण पुत्र भृगु के नाम पर रखा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक में दस अध्याय हैं। उनमें से 7वें, 8वें और 9वें अध्याय को ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन वल्लियाँ हैं। प्रथम वल्ली **'शिक्षा'** शिक्षा से सम्बद्ध है। शिक्षा वल्ली में अक्षर ज्ञान से लेकर गृहस्थ जीवन तक शिक्षा का वर्णन है। इस वल्ली में अध्यात्य शिक्षा का भी निरूपण किया गया है। शिक्षा से अभिप्राय: यह है कि शरीर, मन, बुद्धि और जीवात्मा को प्रेरणा देकर उसे उचित कार्य करने की प्रेरणा देकर उसका अभ्यास कराना है। इनमें किसी का भी अभाव शिक्षा की अपूर्णता का सूचक है। इस वल्ली का सार कहा जाये तो यह हो सकता है कि तप और स्वाध्याय से ही जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है। यह ही जीवन का कर्त्तव्य है।

द्वितीय वल्ली है **ब्रह्मानन्द**। सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप बह्म आकाशादि महाभूत के अन्नमय रूपी सभी कार्यो की सृष्टि कर उसी के समान परिलक्षित होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति ये तीन अक्षर हैं, जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए परमात्मा और प्रकृति के संयोग से पञ्चभूत उत्पन्न हुए हैं, पञ्चभूत से जगत् उत्पन्न हुआ, उसी पञ्चभूत रूप पृथ्वी से अन्न उत्पन्न हुआ है, केवल पृथ्वी से अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता है, उसे सूर्य की अन्य पञ्च भूतों का भी अंश चाहिए। अत: अन्न सें शरीर उत्पन्न हुआ है। इसी शरीर में अन्नमय कोष विद्यमान है, अन्न के अन्दर प्राणमय कोष, इनके अन्दर मनमय और इसी क्रम में विज्ञानमय कोष विद्यमान हैं। कोष से अभिप्राय जहाँ किसी वस्तु को छिपाया गया हो। अन्त में आनन्दमय कोष का निरूपण जो मानव का परम या उद्देश्य हैं।

तृतीय **भृगु वल्ली** है। इस प्रकरण में वरूण के द्वारा स्वपुत्र भृगु को

Scanned with CamScanner

ब्रह्मविद्या और अन्नमयादि पञ्चकोशों के प्राप्ति के विषय में बताया गया है, ब्रह्मविद्या के साधन रूप तप एवं अन्न, प्राणादि विषयक उपासनाओं की महत्ता का प्रतिपादन किया गया हैं। जिनका निरूपण नहीं किया गया था। इन्हीं विषयों का यहाँ निरूपण किया जा रहा हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद्

वल्ली-3 भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

भृगुर्वै वारूणिः वरूणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। त ँहोवाचा यतो वा इयानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसं विशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।।3-1-1।।

अर्थ-वरूण के पुत्र भृगु ने अपने पिता वरूण के पास जाकर कहा, भगवन्। मुझे ब्रह्म का उपदेश अर्थात् ज्ञान दीजिये।

वरूण ने कहा कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी तत्त्व है, जिससे निश्चय ही ये सभी प्राण युक्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर जीवन व्यतीत करते हैं और उसी ब्रह्म में विनष्ट होकर लीन हो जाते हैं। इसलिए ब्रह्म को जानने कि इच्छा करो। इन सभी पर विचार करके ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरे वरूणं पितर मुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। त ँ होवाच्। तपसा बहम विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।।3-2-1।।

अर्थ- भृगु ने तप से जाना कि अन्न बह्म ही है। क्योंकि निश्चय ही अन्न से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होने के पश्चात् अन्न से जीवित रहते हैं और मृत्यु के पश्चात् अन्न में ही विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके वह अपने पिता के पास गया और कहा भगवन्-मुझे ब्रह्म का कथन करिये। वरुण ने उससे कहा कि तप ही ब्रहम है, तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की चेष्य करो। उसने तप किया उसने तप करके-

Scanned with CamScanner

तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्य भिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुन रेव वरूण पितरमुसार। अधीहि ग्रहमेति। तꣳ होवाय। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रहमेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।।3.3.1।।

अर्थ-जाना कि प्राण ही ब्रह्म स्वरूप है। निश्चय से ही प्राण के द्वारा ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर प्राण से जीवन धारण करते हैं और अन्त में उसी प्राण में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान प्राण करके भृगु पुनः अपने पिता वरुण के पास गया और कहा- हे भगवान्-मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। तब पिता ने कहा कि तप के द्वारा ब्रह्म को जानो। तप ही ब्रह्म स्वरूप है। भृगु ने तप किया और तप करके-

चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरूण पितर मुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रहमेति। स तपोऽतप्यत। तपस्तप्त्वा।।4.1.1।।

अर्थ - मन ही ब्रह्म स्वरूप है, क्योंकि मन के द्वारा ही ये सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होकर मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं और मृत्यु के पश्चात् मन में ही विलीन हो जाते हैं।

ऐसा जानकर भृगु पुनः अपने पिता वरुण के पास गया। हे भगवन्। मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइये। वरुण ने कहा तप के द्वारा ब्रह्म को जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ने तप किया और तप करके -

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितर मुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।।5.1.1।।

Scanned with CamScanner

अर्थः- विज्ञान ही ब्रह्म स्वरूप है जाना, क्योंकि निश्चय ही विज्ञान से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर विज्ञान के द्वारा जीवित रहते हैं और अन्त काल में विज्ञान में ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान अर्जित करके पुनः पिता वरुण के पास गया, हे भगवन्। मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए।

वरुण के कहा-तप के द्वारा ही ब्रह्म को जानो। तप ही ब्रह्म स्वरूप है। तब उसने तप किया और तप करके -

षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसं विशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परम व्योमन् प्रतिष्ठिता। स एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्म वर्णसेन। महान् कीर्त्या।।3.6.1।।

अर्थः-आनन्द ही ब्रह्म है यह जाना निश्चय ही आनन्द से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर पुनः आनन्द से हो जीवित रहते हैं और अन्त समय में आनन्द में ही समाविष्ट हो जाते हैं।

यह वह भृगु के द्वारा जानी गई और वरुण के द्वारा कही गई विद्या है, जो परम आकाश में विद्यमान या प्रतिष्ठित हो जाता है वह जो इस प्रकार जानने वाला है, वह ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्न से सम्पन्न अर्थात् अन्न से बना है और अन्न का भोक्ता अर्थात् अन्न खाने वाला है। प्राण, पशु और ब्रह्म तेज के कारण महान् हो जाता है। इसी प्रकार कीर्ति यश से भी महान् हो जाता है।

सप्तम अनुवाक

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभि र्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।।3.7.1।।

अर्थः- उस अन्न की निन्दा न करे। यह एक ब्रह्मवेता का व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर अन्नवान् या अन्न खाने वाला है। प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है और शरीर में प्राण स्थित है। इस प्रकार अन्योन्या भाव से दोनों अन्न में हो प्रतिष्ठित है।

Scanned with CamScanner

जो इस प्रकार अन्न को प्रतिष्ठित जानता है, वह प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्न का भक्षण करने वाला होता है। वह प्रजा से, पशु और ब्रह्म तेज के कारण महान् हो जाता है और कीर्ति यश से भी महान् हो जाता है।

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। इयोतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदनेदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्ननादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्व्या।।8.1.1।।

अर्थः- अन्न का परित्याग न करें। यह ब्रह्मवेत्ता का व्रत है। जल ही अन्न है। ज्योति/तेज अन्न का भक्षण करने वाला है। जल में ज्योति स्थित है और ज्योति में जल प्रतिष्ठित है। इसलिए इस प्रकार अन्न ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार जो अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है, वह उसी रूप होकर प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्न से भरपूर और अन्न का भक्षण करने वाला होता है। वह प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् हो जाता है एवं कीर्ति यश से भी महान् बन जाता है।

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।।9.1.1।।

अर्थः- अन्न की वृद्धि करो। यह उपदिष्ट व्रत है। पृथिवी ही अन्न है और आकाश अन्न का भक्षण करता है। पृथिवी में आकाश स्थित है। आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। अतः इस प्रकार ये दोनों अन्न स्वरूप अन्न में ही प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो अन्न को अन्न में ही स्थित समझता है। वह तद्रूप होकर प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्न से युक्त और अन्न का भक्षण करता है। वह प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् बन जाता है। वह कीर्ति से भी महान् बन जाता है।

दशम अनुवाक

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया

Scanned with CamScanner

बह्वन्नं प्राप्नुयात् आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एत द्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्नतोऽन्नꣳराद्धम्। अन्ततोऽस्या अन्नꣳराध्यते।।10.1.1।।

अर्थः- अपने घर आये किसी अतिथि का किसी प्रकार से अनादर नहीं करना चाहिए। यही व्रत है। इस प्रकार किसी न किसी प्रकार से अन्न की प्राप्ति करो। क्योंकि मैंने अन्न को तैयार किया है; इस प्रकार वह कहता है। जो मनुष्य मुखतः (अतिथ्य सत्कार से सिद्ध/पकाय) अन्न होता है, वह मुख्य वृत्ति से प्राप्त अन्न होता है। जो मध्यतः या मध्य वृत्ति से सिद्ध अन्न को प्रदान करता है, उसे मध्यम वृत्ति से ही अन्न की प्राप्ति होती है और जो अतिथि के लिए अन्न की प्राप्ति अन्तिम कार्य मानता है, वह निकृष्ट वृत्ति से अन्न की प्राप्ति करता है।

य एवं वेद। क्षेय इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञा। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौं बलमिति। विद्युति।।3.10.2।।

यशय इति पशुषु ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्या काशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति।।3.10.3।।

अर्थः- जो इस प्रकार जानता है, वह पूर्वोक्त फल की प्राप्ति करता है। वह ब्रह्म वाणी में क्षेम रूप में प्रतिष्ठित है। योग और क्षेम प्राण और अपान है। हाथ के द्वारा कर्म किया जाता है, पैरों के द्वारा गति होती है पायु से मलमूत्र का त्याग होता है। यह मनुष्य जीव से सम्बन्धित विधि विधान या उपासना है। अब दैवी उपासना को कहते हैं- वृष्टि के द्वारा तृप्ति, विद्युत के द्वारा बल ब्रह्म उपासना योग्य है।

पशुओं, (पशु पालन) में यश, नक्षत्रों में ज्योति रूप से, प्रजा आदि सन्तान से अमृत, भोग में आनन्द रूप से तथा सभी कुछ आकाश रूप से उपासना के योग्य है। वह ब्रह्म प्रतिष्ठित है, ऐसा जानकर उपासना करनी चाहिए। इससे वह स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। उस मह ब्रह्म की उपासना करे। इस प्रकार वह उपासना करता उपासक महान् हो जाता है। वह मन है, ऐसा जानकर उपासना करें; ऐसी उपासना से मानव मननशील होकर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

Scanned with CamScanner

तन्मन इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येण म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परियेऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।।3. 10.4।।

अर्थः- वह नमः नमस्कार के योग्य है। इस भाव से उपासना करनी चाहिए। ऐसा करने से इस सम्पूर्ण भोग्य विषय नमस्कार योग्य हो जाते हैं। वह ब्रह्म है, ऐसा जानकर उपासना करें, इसके द्वारा उपासक ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। वह ब्रह्म में विश्वास, ब्रह्म का आकाश है, इस भाव से उपासना करे। ऐसा करने से उससे द्वेष करने वाले भी नाशवान् हो जाते हैं। जो अप्रिय भाई के पुत्र होते हैं, वे भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। वह जो पुरुष में स्थित है। और जो आदित्य में स्थित है, वह एक हैं।

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एकमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमपुसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमांल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु।।3.10.5।।

अर्थः- वह जो इस प्रकार जानता है, वह इस लोक से गमन करके इस अन्नमय आत्मा के प्रति खिसकता है पुनः प्राणमय आत्मा को संक्रमित करके मनोमय आत्मा का अतिक्रमण करके, इस विज्ञानमय आत्मा की ओर खिसकता है और वहाँ से आनन्दमय आत्मा की ओर संक्रमित होकर-- इन लोकों की सभी कामनाओं/ इच्छाओं का उपभोग करता हुआ एवं कामनानुसार भ्रमण करते हुए साम का गान करता है- हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु।।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳ श्लोक कृदहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोक कृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्व देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा ३वाः। अहमग्नमन्नमदन्तमा३दिम। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतिः। य एवं वेद। इत्युपनिषद्।।3.10.6।।

अर्थः- मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न का भक्षण करने वाला हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ। मैं ही श्लोक कृत अर्थात् संघात का कर्त्ता या

Scanned with CamScanner

संयोग कर्त्ता हूँ, मैं ही संघात का कर्त्ता हूँ, मैं संयोग कर्त्ता हूँ। मैं ही इस मूर्त और अमूर्त जगत् में प्रथम उत्पन्न (हिरण्यगर्भ) हूँ, मैं ही देवों में प्रथम उत्पन्न हुआ और देवताओं का अमृत केन्द्र बिन्दु हूँ। जो कोई मुझे अन्नरूप में दान करता है, वह मेरी ही रक्षा करता है, जो मेरा दान न करने भक्षण करता है, उसे मैं अन्न रूप में खा जाता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण विश्व या जगत् का विनाश/अभिभव करता हूँ। सूर्य तुल्य ही ज्योति स्वरूप हूँ। जो मुझे इस प्रकार जानता है, वह यथार्थ रहस्य को समझकर अमृततव की प्राप्ति करता है। यही उपनिषद् ज्ञान है।

यहाँ भृगु वल्ली का दसवाँ अनुवाक समाप्त हो जाता है। इसमें तप और उपासना का महात्म परिलक्षित होता है।

Scanned with CamScanner